निबन्ध-चयनिका

सपादक
प्रो० रामलाल सावल
राजरिपी कालेज, अलवर।

प्रकाशक
गोविन्द पब्लिशिंग हाउस,
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर।

१९४८

मूल्य २।)

❀ विषय-सूची ❀



भाग १

भाग २



अपने दीर्घकालीन अध्ययन-अध्यायन काल मे मुझे अनेको ही निबन्ध-संग्रहों को पढने-पढाने का सौभाग्य मिला है, परन्तु प्रायेण निराशा ही हुई, सन्तुष्टि न मिली। इसका एक कारण तो यह रहा है कि अधिकाश सकलयिता तो प्रकाशकों के प्रलोभन-वश मुख्यतया व्यावसायिक दृष्टिकोण से ही सकलन करते रहे हैं। संकलन करते समय उन्होंने पाठकों के प्रति अपने उत्तरदायित्व की महत्ता का बहुत कम विचार किया। इधर कुछ वर्षों से कतिपय निबन्ध-संकलन अच्छे भी निकले हैं किन्तु उनमें एक विशेष त्रुटि यह है कि निबन्ध-साहित्य के विकास-क्रम का निदर्शन ही मुख्यतया दृष्टव्य रहा है उनमें भारतेन्दु-काल के लेखकों के निबन्धों को ही अधिक महत्ता दी गई है। परन्तु तत्कालीन लेखको की अनिश्चित भाषा, ग्रामीण प्रयोगो एवं अपरिपक्व शैली के अध्ययन से वर्तमान छात्रों और वह भी उच्च कक्षाओ के छात्रों को जिस हानि की सभावना हो सकती है उसकी ओर इन संकलयिताओ ने ध्यान नहीं दिया। भारतेन्दु कालीन साहित्य के महत्व को अस्वीकृत तो नहीं किया जा सकता और ऐसा करना कृतघ्नता ही हो सकती है, परन्तु भाषा एवं शैली की दृष्टि से तत्कालीन निबन्ध-साहित्य आज के उदीय-मान लेखकों के लिये कहा तक अनुकरणीय है, विज्ञ सकलन-कर्त्ताओ के लिये यह विचारणीय है। भारतेन्दु-काल आधुनिक साहित्य का प्रवेश-द्वार है, गद्य का तो जन्म दाता ही है। आधुनिक भाषा एवं शैली के स्वरूप-निर्धारण का प्रारम्भिक प्रयास है। जहा वह गद्य-साहित्य का अरुणोदय है, वहा उसमें धुंधलापन भी विद्यमान है, निद्रा से

जागृति है परन्तु आलस्य की अंगड़ाई लिये हुए। गद्य को एक निश्चित शैली मे प्रवर्तित करने का एक सफल प्रयत्न तो है, परन्तु भाषा की कचाई, व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धिया, वाक्य-रचना की शिथिलता एव ग्रामीण तथा प्रान्तीय प्रयोगो की बहुलता आदि ऐसे दोष भी हैं जिनका प्रभाव छात्रों पर पड़ना हितकर नही हो सकता। प्रौढ़ भाषा एवं परिपक्व शैली के इस युग मे छात्रों पर उस भाषा एवं शैली का लादना सुरुचिका द्योतक भी नहीं।

आज जो भाषा राष्ट्र-भाषा के महनीय पद को सुशोभित कर रही है, उसका वह स्वरूप ही छात्रों के समक्ष उपस्थित करना मेरी दृष्टि मे समीचीन है जो कि सर्व प्रकारेण व्याकरण सम्मत, परिष्कृत एवं प्रौढ़ हो और सर्वथा अनुकरणीय हो। इसके अतिरिक्त सकलित निबन्ध विषय, शैली एवं विचारो की दृष्टि से पठनीय भी हो। पाठ्य पुस्तको में पाठ्य सामग्री का यथेष्ट ध्यान रखना भी आवश्यक है।

स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी का यह कथन प्रस्तुत सकलन के समय मेरे सामने रहा है—"यदि गद्य कवियो या लेखको की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी" आचार्य महोदय का यह कथन जहा गद्य और तदुपरि निबन्ध के यथार्थ महत्व का प्रतिपादन करता है, वहा निबन्ध-लेखको के प्रति चेतावनी भी है। निबन्ध लिखना एक ऐसे मजे हुए अनुभवी लेखक का ही काम है जिसने कि निरन्तर अध्ययन एवं अनुभवो द्वारा परिपक्व विचार शीलता को ग्रहण कर लिया है तथा निरन्तर अभ्यास द्वारा विचाराभिव्यक्ति की एक सुनिश्चित शैली का निर्माण कर लिया है। साधारण लेखक और निबन्ध लेखक में यही मुख्य भेद है। निबन्ध की सार्थकता इसी में है कि भाव, भाषा एवं अभिव्यञ्जना-शैली सभी के द्वारा लेखक का व्यक्तित्व पाठक के हृदय पर अंकित होता जावे। इसी कारण निबन्ध व्यक्तित्व-प्रधान शैली कही जाती है। निबन्ध वास्तव मे गद्य का सौष्ठव है; गद्य का

उत्कृष्ट स्वरूप साहित्य के इसी अंग मे पूर्ण रूपसे पाया जाता है, तभी गद्य के विवेचक उदाहरणों के लिये निबन्धो में से ही उद्धरण लिया करते हैं।

प्रस्तुत सकलन में इन सभी बातों का यथेष्ट ध्यान रखने का प्रयास किया गया है और यथासभव ऐसी ही रचनाओं को संकलित किया है जो भाषा, शैली, विषय एवं निबन्धत्व सभी दृष्टियों से उपयोगी कही जा सकती हैं। द्विवेदी काल और वर्तमान काल के प्रतिनिधि निबन्ध लेखकों की रचनाएं छात्रों के संमुख उपस्थित करने का प्रयास किया गया है यद्यपि स्थानाभाव के कारण कई अच्छे निबन्ध-लेखकों की कृतियो को सम्मिलित नहीं किया जा सका-इसका मुझे खेद है। परन्तु इस संकलन के निबन्ध छात्रों के लिये उपयुक्त हैं कि नहीं—इस का निर्णय तो योग्य छात्र एव विज्ञ अध्यापक ही करेंगे।

द्विवेदी-काल हिन्दीभाषा का परिमार्जन-काल होने के साथ२ नव-नव शैलियों एवं अभिव्यञ्जना-पद्धतियों का प्रयोगकाल भी है। इसी काल में हिन्दी किशोरावस्था को पार कर यौवन में प्रवेश करती है और विविध प्रकार के साहित्यिक सौष्ठव से समन्वित हो आदरणीय स्थान ग्रहण करती है तथा विश्व-विद्यालयों की उच्च कक्षाओं में अन्य विषयों के समतुल्य प्रतिष्ठित की जाती है। निबन्ध-साहित्य का तो वह 'स्वर्ण-काल' ही समझा जाता है। इस काल में भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से निबन्ध-साहित्य ने पर्याप्त विकास किया। श्री द्विवेदी जी जैसे प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य के नेतृत्व में भाषा को तो परिमार्जित, स्थिर और प्रौढ़ स्वरूप प्राप्त हुआ ही, भाव-क्षेत्र भी अधिक विस्तृत हो गया। भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों का निराकरण हुआ और नये नये विषयों तथा विचार-धाराओं के उपयुक्त भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति का भी उद्घाटन हुआ। हिन्दी ने केवल काव्य की भाषा न रह कर साहित्य के व्यापक क्षेत्र में पदार्पण किया और विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन (प्राचीन एवं आधुनिक,) इतिहास, समाज आदि अनेक विषयों पर विचार पूर्ण रचनाएँ लिखी गई और उनके उपयुक्त भाषा का स्वरूप उपस्थित किया गया. जिससे हिन्दी भाषा की अन्त:शक्ति का प्रत्यक्षीकरण हुआ।

विवरणात्मक, वर्णनात्मक और विवेचनात्मक, निबन्ध के तीनों भेदों पर सुन्दर सुन्दर रचनाएँ होने लगी। कल्पना एवं बुद्धि का सम्यक् प्रयोग हुआ और तत्कारण नाना शैलियों का दिग्दर्शन। विवेचना के क्षेत्र मे विचारों को अभिव्यक्त करने के लिये व्यास और समास, दोनों शैलियों का प्रयोग हुआ। साहित्यिक आलोचना के नयेर ढंग प्रयोग मे लाये गये। पुस्तक-रूप मे आलोचनाएँ लिखने की प्रणाली सामने आई। पद्मसिंहजी शर्मा ने तुलनात्मक समालोचना का दिग्दर्शन कराया। इस प्रकार समालोचना जो रचना के गुण-दोषो के विवेचन से आरम्भ हुई थी, लेखक के जीवन-परिचय तक बढ़ी और धीरे धीरे लेखक की अन्तः प्रकृति की छान-बीन तथा सूक्ष्म वृत्तियो के विश्लेषण की ओर अग्रसर होती हुई समालोचना के वास्तविक स्वरूप को स्थिर करने लगी। रामचन्द्रजी शुक्ल ने तो इस क्षेत्र में उत्कृष्ट पथ-प्रदर्शक का कार्य किया, और वैज्ञानिक ढंग की सत्समालोचना का नया मार्ग खोल दिया जिस पर चलते हुए वर्त्तमान काल के अनेको समालोचक उत्कृष्ट कृतियाँ हिन्दी साहित्य को भेंट कर रहे हैं। आलोचनात्मक प्रबन्धों के अतिरिक्त शुक्ल जी ने अनेकों ही विचारात्मक मौलिक निबन्ध भी लिखे हैं। उनकी शैली की मुख्य विशेषता गवेषणात्मकता है।

विचारो का गूढ-गुम्फित स्वरूप उपस्थित कर पाठक की बुद्धि को प्रेरित करने की शक्ति शुक्ल जी मे विशेषरूप से विद्यमान थी। आलोचनात्मक निबन्धों के समान इन निबन्धो में भी शुक्ल जी की शैली अत्यन्त वैज्ञानिक, व्यवस्थित और विशदतापूर्ण है। सरदार पूर्णसिंह और श्री गुलाबराय अन्य उल्लेखनीय लेखक इस युग की विशेषता हैं। सरदार पूर्णसिंह के यद्यपि तीन निबन्ध ही प्राप्त हैं परन्तु अपनी कोटि के वे अद्वितीय निबन्ध हैं। उनके निबन्धो मे हृदय-पक्ष (भाव) और बुद्धि-पक्ष (विचार) का अनूठा समन्वय है। उनकी लाक्षणिक शैली ... गद्य-साहित्य मे उस समय एक नवीन प्रयोग था। "भाषा और ... की एक नई विभूति उन्होंने सामने रखी। योरुप के जीवन-क्षेत्र

की अशान्ति से उत्पन्न आध्यात्मिकता की, किसानों और मजदूरों की महत्व भावना की जो लहरें उठीं उनमें वे बहुत दूर तक बहे। उनके निबन्ध भावात्मक कोटि में ही आएंगे यद्यपि उनकी तह में क्षीण विचार धारा अवश्य लक्षित होती है।" मन्दार जी ने आध्यात्मिकता और लौकिकता का अनूठा समन्वय प्रवाहमयी भाषा में अत्यन्त प्रभावात्मक रूपमें उपस्थित कर भावाभिव्यक्ति का एक नया मार्ग खोलने का काम किया।

बा० गुलाबरायजी भी इसी प्रकार भावात्मक और विचारात्मक निबन्ध लिखने वाले हैं। इनकी शैली भी अत्यन्त रोचक एवं प्रभावोत्पादक है। कहीं २ दर्शन की ओर लेखक की अधिक प्रवृत्ति होने के कारण साधारण पाठकों के लिये कुछ कठिनता आ गई है, परन्तु प्रायः आप के विचार और भाषा-शैली पाठक के लिये आकर्षक एवं प्रेरणाप्रद होती है। आपसे हिंदी संसार को अभी बहुत आशाएँ हैं। आप 'साहित्य-सदेश' द्वारा हिन्दी-साहित्य सेवियों और विशेषतः विद्यार्थि-वर्ग के लिए समालोचना-साहित्य-निर्माण में जो उपयोगी कार्य कर रहे हैं उसके लिए हिन्दी ससार आपका चिर-ऋणी रहेगा।

इनके अतिरिक्त बा० श्यामसुन्दरदास, श्री प्रेमचंद, पं०अयोध्यासिंह उपाध्याय श्री.गणेशशंकर विद्यार्थी भी द्विवेदी युग के शृंगार थे और निबन्ध साहित्य के समुज्ज्वल रत्न। इन सबकी रचनायें संसार के किसी भी साहित्य की प्रतियोगिता में आदरपूर्वक रखी जा सकती हैं।

इस प्रकार भाषा की सर्वाङ्ग उत्कृष्टता, विषयों की अनेकता और शैलियों की विविधता को लेकर द्विवेदी युग का निबन्ध-साहित्य वर्तमान काल में प्रविष्ट हुआ। रस निधि से वर्तमान युग नवोत्साह एवं नवस्फूर्ति ग्रहण कर साहित्य-निर्माण की ओर बढ़ रहा है। गद्य के सभी अङ्गों में आशातीत विकास हो रहा है। विषयों की व्यापकता और भी बढ़ रही है तथा विषय-प्रतिपादन की शैलियों में दिन प्रति दिन नवीनता एवं विकास दृष्टि गोचर हो रहे हैं। सभी प्रकार के निबन्धों में भिन्न२-

शैलियो का प्रादुर्भाव हो रहा है। सिद्धान्त निरूपक प्रज्ञात्मक शैली, प्रौढ़ आलोचना शैली, भावाभिव्यञ्जना को विनोद-व्यंग्य-पूर्ण आलङ्कारिक शैली तथा भावात्मक गद्य गीति शैली आदि मे अनेकों ही महत्वपूर्ण रचनाएँ हो रही है। निबन्धो की ओर अधिकाधिक आकर्षण दीख पड़ता है—लेखको की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है; इस से यह आशा दृढ़ होती जा रही है कि हमारे निबन्ध साहित्य का भविष्य और भी उज्ज्वल होगा। सर्व श्री माखनलाल चतुर्वेदी, डा० रघुवीरसिंह, हजारीप्रसाद द्विवेदी, शान्ति प्रिय द्विवेदी, जैनेन्द्रकुमार, श्रीमती महादेवी वर्मा आदि के नाम वर्तमान काल के निबन्ध-लेखकों तथा नवशैली-विधायकों में विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

प्रस्तुत संग्रह में उपर्युक्त दोनो कालों के प्रतिनिधि निबन्ध-लेखकों की कृतियों में से ऐसे निबन्धो का संकलन किया गया है जो भाषा की शुद्धता, विषयों की अनेक रूपता एवं शैली की विविधता का दिग्दर्शन करने के अतिरिक्त छात्रों के लिये ज्ञानोपार्जन की भी उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यदि यह संकलन विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध हो सका तो सकलन-कर्त्ता को हार्दिक प्रसन्नता होगी।

विद्यार्थियो की सुविधा के लिए संकलन को दो भागों (द्विवेदी काल और वर्तमान काल) मे विभक्त कर दिया गया है, यद्यपि कुछ कारणों से निबन्धों के क्रम का यथेष्ट पालन नहीं हो सका।

प्रेस-सम्बन्धी असुविधाओं तथा समयाभाव के कारण जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिए सकलन-कर्त्ता एवं प्रकाशक हार्दिक खेद प्रकट करते हुए विद्वान् लेखकों एवं पाठकों से क्षमा-याचना करते हैं।

संकलन-कर्त्ता उन विद्वानो एवं शैलीकारों का, अत्यधिक आभारी है जिन की रचनाएँ इस संग्रह में संकलित की गई हैं, और दिवंगत लेखको के प्रति विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ इस दुःसाहस के लिये क्षमा चाहता है।

संकलनकर्त्ता

—: ललित कलाएँ और काव्य :—



सृष्टि की उपयोगिता और सुन्दरता:—

प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह सम्भव है कि बहुत-सी वस्तुओं के गुणों को हम अभीतक न जान सके हों, पर ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उनका सौंदर्य है। फल फूलों पशु-पक्षियों, कीट-पतगों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौंदर्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं। एक के अस्तित्व से ही दूसरे का अस्तित्व प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मनमें उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहां तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुन्दरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुन्दरता पाते हैं। एक झोपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोपड़ी सुन्दरता का गुण भी धारण कर लेती है। इसमें उपयोगिता के साथ ही साथ उसमें सुन्दरता भी आजाती है।

कला और उसके विभागः—

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है उसकी 'कला' संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अंतर्गत वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पांच कला भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक आनंद की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुन्दर भी हो, परन्तु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुन्दर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुंदर भी हैं; अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अंतर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुंदर होने में संदेह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिये मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिये सुंदरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किए उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता

है वह सुंदर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न देशों के लोग अपनी २ सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुंदरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सब का मन एक-सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाओं का आधारः—

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्माण), मूर्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करने वाली हैं और संगीत तथा श्रव्य-काव्य कानों के द्वारा। पहली कला में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतना ही उच्चकोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है, और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं। क्योंकि मूर्त आधार की विशालता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है, परन्तु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है, जो इस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार

अर्थात् भवन-निर्माण-कर्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिए मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिए लम्बाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह है कि ज्यों ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ललित कलाओं के आधार तत्व:—

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे ललित कलाओं के संबंध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही

कि अंत में अर्थात् काव्य कला में रूप आकार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिंद्रिय और श्रवणेंद्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुनने वाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचा कर उसे प्रभावित करता है, अर्थात् सुनने या देखने वाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के संबंध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त आधार, (२) वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है।

वास्तु कला:—

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं, ये सब पदार्थ मूर्त हैं। अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती, दूसरे उनकी कृति में रूप-रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं

जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिछाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मंदिर, मस्जिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मकबरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुम्बज, मिहराब, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परन्तु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनंदित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के पदार्थ निदर्शक हों, चाहे न हों, अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हों या न हों।

मूर्त्ति कला:—

मूर्त्ति कला में मूल आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्त्तिकार काट छाँटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्त्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्हित रहते हैं। वह सब कुछ, अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल या पुर्जे का आवश्यक उपयोग न करे। परन्तु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिये वास्तुकार से मूर्त्तिकार की स्थिति अधिक महत्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्त्तिकार अपने प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में जीवधारियों की प्रतिछाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यहाँ

कारण है कि मूर्त्तिकला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दर-ता को प्रकाशित करना है।

चित्र कलाः—

चित्र कला का आधार कपडे, कागज, लकडी आदि का चित्र पट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रुश या कलम की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियो के प्राकृतिक रूप, रग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परन्तु मूर्त्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसी से उसे अपनी कला की खूबी दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पडता है। वह अपने ब्रुश या कलम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति मे देखता है उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु सी जान पडने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्त्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति मे मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने मे चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अगो को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किन्तु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभगी का प्रतिरूप आँखो के सामने खडा करने के लिये अपना ब्रुश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पडता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला मे मूर्तता का अश थोडा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के संबंध में विचार किया गया जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती है। अब अवशिष्ट दो ललित कलाओ,

अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा; जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करते हैं। इन दोनों में मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत कला:—

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनंत समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धांतों के आधार हैं। वे ही संगीतकला के प्राण रूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादिकाल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिये, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनन्द की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है; हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है, शांत रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय में शांति की धारा बहा सकता है। परन्तु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है, उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़-खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें तो यह बात

संगीत कला के बाहर है। संगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला उतनी सफल हुई है जितनी काव्यकला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो पाई। संगीत हमारे मनको अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है। इस विचार से यह कलावास्तु मूर्ति और चित्र कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह कि संगीतकला और काव्य कला में परस्पर बड़ा घनिष्ट संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम होजाता है।

काव्य कला:—

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय या कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिये किसी दूसरे साधन के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही होजाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं और इन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव वे भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। इस संबंध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

ललित कलाओं का ज्ञान:—

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार

से प्राप्त करते हैं—एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से और दूसरे उन भाव-चित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस समय जहाँतक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का अर्थात् मेरे दृष्टिपथ में जो कुछ आता है उन सब का मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुन्दर बगीचे की ओर चला गया जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मनमें ही करली। उस दशा में इस बगीचे में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का सम्मिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष संबंध उन सब पदार्थों या जीवों से है जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आंतरिक ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका संबंध मेरे पूर्व संचित अनुभवों या मेरी कल्पना शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है; पर दूसरा विस्तार उससे अत्यंत अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलंबित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है; इसमें मेरी ही कल्पना शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना-शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने २ अनुभवों को अंकित करके उन्हें रक्षित या नियंत्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों, चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सबसे सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव हृदय पर अपना प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य से हमारा अभिप्राय उस ज्ञान-समुदाय से है जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के भीतर माना है।

दोनों जातियां, तथा अन्य देशों और उनके भविष्य-जीवन पर क्या प्रभाव डाला ? परन्तु वह इतिहास लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदय-ग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण अभी तक मुझे पूरा पूरा प्रभावित करता है जबतक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा, परन्तु मैं जब चाहूँ तब अपनी कल्पना या स्मरण शक्ति से उसे अपने अन्तः करण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है। इसका कारण यही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है और वह बाह्य ज्ञान पर अवलम्बित है, परन्तु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अंतर्ज्ञान पर अवलम्बित है। संक्षेप में, हम चित्र को देख कर यह कहते हैं कि "मैंने लड़ाई देखी," पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि "मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया" या "उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।"

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भण्डार कह सकते हैं, जो अनन्तकाल से भरता आता है और निरन्तर भरता जायगा। मानव सृष्टि के आरम्भ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता विचारता आया है, उस सब का बहुत कुछ अंश इसमें भरा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानवजीवन के लिये यह भण्डार कितना प्रयोजनीय है।

काव्य-कला में पुस्तकों का महत्व—

मनुष्य के काव्यरूपी मानसिक जीवन में पुस्तकें बड़े महत्त्व की वस्तु हैं। बिना उनके काव्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। यदि पुस्तकें

न होते तो आज हम महर्षि वाल्मीकि, कविकुल-चूड़ामणि कालिदास, भवभूति, भगवान् बुद्धदेव मर्यादा पुरुषोत्तम महाराज रामचन्द्र आदि से कैसे परिचित होते, उनकी नीति व्यवहार का ज्ञान कैसे प्राप्त करते, और उनके अनुभव तथा अनुकरण से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत और महत्त्वपूर्ण बनाने में कैसे समर्थ होते।

काव्य का महत्व—

संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य-ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनन्द प्राप्त करें तथा उसके मर्म को समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्यरूप को पूरा पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अंतःवृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अन्तःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना की, अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और इसी रक्षित भण्डार की सहायता से वह नए अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता है, उसी प्रकार काव्य जाति विशेष का मस्तिष्क या अन्तःकरण है जो उसके पूर्व-अनुभव, भावना, विचार, कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जब ज्ञानेन्द्रियों के सब सन्देश बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही साहित्य के बिना, पूर्व-संचित ज्ञान-भण्डार के बिना, मानव-जीवन पशु-जीवन के समान होता। उसमें वह विशेषता ही न रह जाती जिसके कारण मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

सच्ची वीरता

सच्चे वीर पुरुष धीर, गंभीर और आजाद होते हैं। उनके मन की गंभीरता और शांति समुद्र की तरह विशाल और गहरी, या आकाश की तरह स्थिर और अचल होती है। वे कभी चंचल नहीं होते। रामायण में वाल्मीकि जी ने कुम्भकरण की गाढ़ी नींद में वीरता का एक चिह्न दिखलाया है। सच है, सच्चे वीरों की नींद आसानी से नहीं खुलती। वे सत्वगुण के क्षीर-समुद्र में ऐसे डूबे रहते हैं कि उनको दुनिया की खबर ही नहीं होती। वे संसार के सच्चे परोपकारी होते हैं। ऐसे लोग दुनिया के तख्ते को अपनी आँख की पलकों से हलचल में डाल देते हैं। जब ये शेर जागकर गर्जते हैं, तब सदियों तक इनकी आवाज की गूँज सुनाई देती रहती है और सब आवाजें बंद हो जाती हैं। वीर की चाल की आहट कानों में आती रहती है और कभी मुझे और कभी तुझे मद-मत्त करती है। कभी किसी की और कभी किसी की प्राणसारंगी वीर के हाथ से बजने लगती है।

देखो, हरा की कंदरा में एक अनाथ, दुनिया से छिपकर, एक अजीब नींद सोता है। जैसे गली में पड़े हुए पत्थर की ओर कोई ध्यान नहीं देता, वैसे ही आम आदमियों की तरह इस अनाथ को कोई न जानता था। एक उदार हृदया धनसंपन्ना स्त्री की वह नौकरी करता है। उसकी सांसारिक प्रतिष्ठा सिर्फ एक मामूली गुलाम की सी है। पर कोई ऐसा दैवी कारण हुआ जिससे संसार में अज्ञात उस गुलाम की बारी आई। उसकी निद्रा खुली। संसार पर मानो हजारों बिजलियाँ गिरीं। अरब के रेगिस्तान में बारूद की सी भड़क उठी। उसी वीर की आँखों की ज्वाला इन्द्रप्रस्थ से लेकर स्पेन तक प्रज्वलित हुई। उस अज्ञात और गुप्त हरा की कन्दरा में सोने वाले ने एक आवाज दी। सारी पृथ्वी भय से काँपने लगी। हाँ, जब पैगम्बर मुहम्मद ने "अल्ला हो अकबर" का

गीत गाया तब कुल संसार चुप हो गया। और, कुछ देर बाद, प्रकृति उसकी आवाज की गूँज को सब दिशाओं में ले उड़ी। पक्षी 'अल्लाह' गाने लगे और मुहम्मद के पैगाम को इधर उधर ले उड़े। पर्वत उसकी वाणी को सुनकर पिघल पड़े और नदियाँ "अल्लाह, अल्लाह" का अलाप करती हुई पर्वतों से निकल पड़ीं। जो लोग उसके सामने आए वे उसके दास बन गए। चन्द्र और सूर्य ने बारी बारी से उठ कर सलाम किया। उस वीर का बल देखिए कि सदियों के बाद भी संसार के लोगों का बहुत सा हिस्सा उसके पवित्र नाम पर जीता है और अपने छोटे से जीवन को अति तुच्छ समझ कर उस अनदेखे और अज्ञात पुरुष के, केवल सुने सुनाए नाम पर कुर्बान हो जाना अपने जीवन का सबसे उत्तम फल समझता है।

सत्त्वगुण के समुद्र में जिनका अन्तःकरण निमग्न हो गया वे ही महात्मा, साधु और वीर हैं। वे लोग अपने क्षुद्र जीवन को परित्याग कर ऐसा ईश्वरीय जीवन पाते हैं कि उनके लिये संसार के सब अगम्य मार्ग साफ हो जाते हैं। आकाश उनके ऊपर बादलों के छाते लगाता है। प्रकृति उनके मनोहर माथे पर राज-तिलक लगाती है। हमारे असली और सच्चे राजा ये ही साधु पुरुष हैं। हीरे और लाल से जड़े हुए, सोने और चाँदी से जर्क बर्क सिंहासन पर बैठने वाले दुनिया के राजाओं को तो, जो गरीब किसानों की कमाई हुई दौलत पर पिंडोपजीवी होते हैं, लोगों ने अपनी मूर्खता से वीर बना रखा है। ये ज़री, मखमल और जेवरों से लदे हुए मांस के पुतले तो हरदम काँपते रहते हैं। इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान् और बलवान् होने पर भी दुनिया के ये छोटे 'जॉर्ज' बड़े कायर होते हैं। क्यों न हो, इनकी हुकूमत लोगों के दिलों पर नहीं होती। दुनिया के राजाओं की दौड़ लोगों के शरीर तक है। हाँ, जब कभी किसी अकबर का राज लोगों के दिलों पर होता है तब इन कायरों की बस्ती में मानो एक सच्चा वीर पैदा होता है।

एक बागी गुलाम और एक बादशाह की बातचीत हुई। यह गुलाम कैदी दिल से आजाद था। बादशाह ने कहा—"मैं तुमको अभी जान से मार डालूँगा। तुम क्या कर सकते हो? गुलाम बोला—"हाँ, मैं फाँसी पर तो चढ़ जाऊँगा, पर तुम्हारा तिरस्कार तब भी कर सकता हूँ।" बस इस गुलाम ने दुनिया के बादशाहों के बल की हद दिखला दी। बस इतने ही जोर और इतनी ही शेखी पर ये झूठे राजा शरीर को दुःख दे और मार पीटकर अनजान लोगों को डराते हैं। भोले लोग उनसे डरते हैं। चूँकि सब लोग शरीर को अपने जीवन का केन्द्र समझते हैं, इसलिये जहाँ किसी ने उनके शरीर पर जरा जोर से हाथ लगाया वहीं वे मारे डर के अधमरे होजाते हैं, केवल शरीर-रक्षा के निमित ये लोग इन राजाओं की ऊपरी मन से पूजा करते हैं। जैसे ये राजा वैसा उनका सत्कार। जिनका बल शरीर को जरा सी रस्सी से लटकाकर मार देने भर ही का है, भला, उनका और उन बलवान् और सच्चे राजाओं का क्या मुकाबला जिनका सिंहासन लोगों के हृदय-कमल की पखड़ियों पर है? सच्चे राजा अपने प्रेम के जोर से लोगों के दिलों को सदा के लिये बाँध देते हैं। दिलों पर हुकूमत करने वाली फौज, तोप, बंदूक आदि के बिना ही वे शाहशाह-जमाना होते हैं। मंसूर ने अपनी मौज में आकर कहा—"मैं खुदा हूँ"। दुनिया के बादशाह ने कहा—"यह काफिर है"। मगर मंसूर ने अपने कलाम को बंद न किया। पत्थर मार मारकर दुनिया ने उसके शरीर की बुरी दशा की, परंतु उस मर्द के हर बाल से ये ही शब्द निकले—'अनलहक'—"अहं ब्रह्मास्मि" "मैं ही ब्रह्म हूँ"। मंसूर का सूली पर चढ़ना उसके लिये सिर्फ खेल था। बादशाह ने समझा कि मंसूर मारा गया।

शम्सतबरेज को भी ऐसा ही काफिर समझकर बादशाह ने हुक्म दिया कि इसकी खाल उतार दो। शम्स ने खाल उतारी और बादशाह को, दर्वाजे पर आये हुए कुत्ते की तरह भिखारी समझकर, वह खाल खाने के लिए देदी। देकर वह अपनी यह गजल बराबर गाता रहा—

"भीख मांगने वाला तेरे दर्वाजे पर आया है ऐ मेरे दिल। कुछ इसको देदो।" खाल उतार कर फेंक दी। वाह रे सत्पुरुष।

भगवान् शंकर जब गुजरात की तरफ यात्रा कर रहे थे तब एक कापालिक हाथ जोड़े सामने आकर खड़ा हुआ। भगवान् ने कहा— "माँग क्या माँगना है?" उसने कहा—"हे भगवान्! आजकल के राजा बड़े कंगाल हैं। उनसे अब हमें दान नहीं मिलता। आप ब्रह्मज्ञानी और बड़े दानी हैं। इसलिये मैं आपके पास आया हूँ। आप अपनी कृपा से मुझे अपना सिर दान करें जिसकी भेंट चढ़ाकर मैं अपनी देवी को प्रसन्न करूँगा और अपना यज्ञ पूरा करूँगा।" भगवान् ने मौज में आकर कहा—"अच्छा कल यह सिर उतार कर ले जाना और काम सिद्ध कर लेना।"

एक दफे दो वीर पुरुष अकबर के दरबार में आये। वे लोग रोजगार की तलाश में थे। अकबर ने कहा—"अपनी २ वीरता का सबूत दो।" बादशाह ने कैसी मूर्खता की। वीरता का भला वे क्या सबूत देते? परंतु दोनों ने तलवारें निकाल लीं और एक दूसरे के सामने कर उनकी तेज धार पर दौड़ गये और वहीं राजा के सामने क्षण भर में अपने खून में ढेर हो गए।

ऐसे दैवी वीर रुपया, पैसा, माल, धन का दान नहीं दिया करते जब वे दान देने की इच्छा करते हैं तब अपने आपको हवन कर देते हैं बुद्ध महाराज ने जब एक राजा को मृग मारते देखा तब अपना शरीर आगे कर दिया जिससे मृग बच जाय बुद्ध का शरीर चाहे चला जाय ऐसे लोग कभी बड़े मौकों का इंतिजार नहीं करते छोटे मौकों को ही बड़ा बना देते हैं।

जब किसी का भाग्योदय हुआ और उसे जोश आया तब जान लो कि संसार में एक तूफान आगया। उसकी चाल के सामने फिर कोई रुकावट नहीं आ सकती। पहाड़ों की पसलियाँ तोड़कर ये लोग हवा के

घगोले की तरह निगल जाते हैं, उनके बल का इशारा भूचाल देता है और उनके दिल की हरकत का निशान समुद्र का तूफान देता है। कुदरत की और कोई ताकत उनके सामने फटक नहीं सकती। सब चीजें थम जाती हैं। विधाता भी सांस रोककर उनकी राह को देखती है। यूरोप में जब रोम के पोप का जोर बहुत बढ़ गया था तब उसका मुकाबिला कोई भी बादशाह न कर सकता था। पोप की आँखों के इशारे से यूरोप के बादशाह तख्त से उतार दिये जा सकते थे। पोप का सिक्का यूरोप के लोगों पर ऐसा बैठ गया था कि उसकी बात को लोग ब्रह्मवाक्य से भी बढ़कर समझते थे और पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। लाखों ईसाई साधु-सन्यासी और यूरोप के तमाम गिर्जे पोप के हुक्म की पाबंदी करते थे। जिस तरह चूहे की जान बिल्ली के हाथ में होती है उसी तरह पोप ने यूरोपवासियों की जान अपने हाथ में करली थी। इस पोप का बल और आतंक बड़ा भयानक था। मगर जर्मनी के एक छोटे से मंदिर के एक कंगाल पादरी की आत्मा जल उठी। पोप ने इतनी लीला फैलाई थी कि यूरोप में स्वर्ग और नर्क के टिकट बड़े बड़े दामों पर बिकते थे। टिकट बेच बेचकर यह पोप बड़ा विषयी हो गया था। लूथर के पास जब टिकिट बिक्री होने को पहुँचे तब उसने पहले एक चिट्ठी लिखकर भेजी कि ऐसे काम झूठे तथा पापमय हैं और बंद होने चाहिएँ। पोप ने इसका जवाब दिया—"लूथर! तुम इस गुस्ताखी के बदले आग में जिंदा जला दिये जाओगे।" इस जवाब से लूथर की आत्मा की आग और भी भड़की। उसने लिखा—"अब मैंने अपने दिल में निश्चय कर लिया है कि तुम ईश्वर के तो नहीं किंतु शैतान के प्रतिनिधि हो। अपने आपको ईश्वर के प्रतिनिधि कहने वाले मिथ्यावादी! जब मैंने तुम्हारे पास सत्यार्थ का संदेश भेजा तब तुमने आग और जल्लाद के नामों से जवाब दिया। इससे साफ प्रतीत होता है कि तुम शैतान के दलदल पर खड़े हो, न कि सत्य की चट्टान पर। यह लो तुम्हारे टिकटों के गट्ठे मैंने आग में फेंके। जो मुझे करना था मैंने कर

दिया तो वह तुम्हारी इच्छा ही से। यह जहाज भी चट्टान पर खड़ा है।' इस छोटे से वाक्यांश ने वह कमाल जोश में पैदा कर दिया जिससे एक क्षण में पोत का भाग जो दिखा चकना चूर होगया। तूफ़ान में एक तिनके की तरह वह न मालूम क्यों उड़ गया।

महाराज रणजीतसिंह ने फौज से कहा—"अटक के पार जाओ।" अटक चढ़ी हुई थी और भयंकर लहरें उठी हुई थीं। जब फौज ने कुछ उत्साह प्रकट न किया तब उस वीर को जरा जोश आया। महाराज ने अपना घोड़ा दरिया में डाल दिया। कहा जाता है कि अटक सूख गई और सब पार निकल गये।

दुनिया के जंग के सब सामान जमा हैं। लाखों आदमी मरने मारने को तैयार हो रहे हैं। गोलियाँ पानी की बूँदों की तरह मूसलधार बरस रही हैं। यह देखो, वीर को जोश आया। उसने कहा—"हाल्ट" (ठहरो)। तमाम फौज निःस्तब्ध होकर सकते की हालत में खड़ी हो गई। आल्प्स के पहाड़ों पर फौज ने चढ़ना ज्यों ही असंभव समझा त्यों ही वीर ने कहा—'आल्प्स है ही नहीं।" फौज को निश्चय होगया कि आल्प्स नहीं है और सब लोग पार होगए।

एक भेड़ चराने वाली और सतो गुण में डूबी हुई युवती कन्या के दिल में जोश आते ही कुल फ्रांस एक भारी शिकस्त से बच गया।

अपने आपको हर घड़ी और हर पल महान् से भी महान् बनाने का नाम वीरता है। वीरता के कारनामे तो एक गौण बात है। असल वीर तो इन कारनामों को अपनी दिनचर्या में लिखते भी नहीं। पेड़ तो जमीन से रस ग्रहण करने में लगा रहता है, उसे यह ख्याल ही नहीं होता कि मुझ में कितने फल या फूल लगेंगे और कब लगेंगे। उसका काम तो अपने आपको सत्य में रखना है—सत्य को अपने अंदर कूट २ कर भरना है और अंदर ही अंदर बढ़ना है। उसे इस चिंता से क्या मतलब कि कौन मेरे फल खायगा या मैंने कितने फल लोगों को दिये।

वीरता का विकास नाना प्रकार से होता है। कभी तो उसका विकास लड़ने मरने में, खून बहाने में, तलवार, तोप के सामने जान गँवाने मे होता है, कभी प्रेम के मैदान मे उसका झण्डा खडा होता है। कभी जीवन के गूढ तत्त्व और सत्य की तलाश मे बुद्ध जैसे राजा विरक्त होकर वीर हो जाते है। कभी किसी आदर्श पर और कभी किसी पर वीरता अपना फरहरा लहराती है। परतु वीरता एक प्रकार का इलहाम या दैवी प्रेरणा है। जब कभी इसका विकास हुआ तभी एक नया कमाल नजर आया; एक नया जलाल पैदा हुआ, एक नई रौनक, एक नया रंग, एक नई बहार, एक नई प्रभुता ससार मे छा गइ। वीरता हमेशा निराली और नई होती है। नयापन भी वीरता का एक खास रग है। हिन्दुओ के पुराणों की वह अलकारिक कल्पना, जिससे पुराणकारो ने ईश्वरावतारों को अजीब २ और भिन्न भिन्न वेष दिये हं, सच्ची मालूम होती है, क्योंकि वीरता का एक विकास दूसरे विकास से कभी किसी तरह मिल नही सकता। वीरता की कभी नकल नहीं हो सकती, जैसे मन की प्रसन्नता कभी कोई उधार नहीं ले सकता। वीरता देश-काल के अनुसार संसार मे जब कभी प्रकट हुई तभी एक नया स्वरूप लेकर आई। जिसके दर्शन करते ही सब लोग चकित होगए—कुछ बन न पडा और वीरता के आगे सिर झुका दिया।

जापानी वीरता की मूर्त्ति पूजते हैं। इस मूर्त्ति का दर्शन वे चेरी के फूल की शात हँसी मे करते हैं। क्या ही सच्ची और कौशलमयी पूजा है। वीरता सदा जोर से भरा हुआ ही उपदेश नहीं करती। वीरता कभी २ हृदय की कोमलता का भी दर्शन कराती है। ऐसी कोमलता देखकर सारी प्रकृति कोमल हो जाती है, ऐसी सुन्दरता देखकर लोग मोहित हो जाते हैं। जब कोमलता और सुन्दरता के रूप मे वह दर्शन देती है तब चेरी-फूल से भी ज्यादा नाजुक और मनोहर होती है। जिस शख्स ने यूरोप को 'क्रूसेड्ज' के लिये हिला दिया वह उन सबमे बडा वीर था

जो लड़ाई में मारे गए। इस पुरुष ने दीनता से आँसुओं और आहों का लिबास लिया। देखो, एक छोटा-सा मामूली आदमी यूरोप में जाकर रोता है कि हाय हमारे लोग हमारे वास्ते खुले नहीं। और यहूद के राजा यूरोप के वासियों को ठीक करते हैं। इस आत्म-भरी अपील को सुन कर सारा यूरोप उसके साथ रो उठा। यह आला दर्जे की वीरता है।

बुलबुल की छाया को बीमार लोग सब दवाइयों से बढ़कर समझते थे। उसके दर्शनों ही से कितने बीमार अच्छे हो जाते थे। वह अव्वल दर्जे का सच्चा मसीही है जो बीमारों के सिरहाने खड़ा होकर दिन-रात गरीबों की निष्काम सेवा करता है और गंदे जख्मों को जरूरत के वक्त अपने मुख से चूसकर साफ करता है। लोगों के दिलों पर ऐसे प्रेम का राज्य अटल है। यह वीरता पर्दानशीन हिंदुस्तानी औरत की तरह चाहे कभी दुनिया के सामने न आए, इतिहास के वर्कों के काले हर्फों में न आए, तो भी संसार ऐसे ही बल से जीता है।

वीर पुरुष का दिल सबका दिल हो जाता है। उसका मन सब का मन हो जाता है। उसके ख्याल सब के ख्याल हो जाते हैं। सब के संकल्प उसके संकल्प हो जाते हैं। उसका बल सब का बल होजाता है। वह सब का और सब उसके हो जाते हैं।

वीरों के बनाने के कारखाने कायम नहीं हो सकते। वे तो देवदार के दरख्तों की तरह जीवन के अरण्य में खुद-ब-खुद पैदा होते हैं और बिना किसी के पानी दिए, बिना किसी के दूध पिलाए, बिना किसी के हाथ लगाए, तैयार होते हैं। दुनिया के मैदान में अचानक ही सामने आकर वे खड़े हो जाते हैं, उनका सारा जीवन भीतर ही भीतर होता है, बाहर तो जवाहिरात की खानों की ऊपरी जमीन की तरह कुछ भी दृष्टि में नहीं आता। वीर की जिंदगी मुश्किल से कभी कभी बाहर आती है। उसका स्वभाव तो छिपे रहने का है।

वह लाल गुदड़ियों के भीतर छिपा रहता है। कंदराओं में, गारों में, छोटी छोटी झोंपड़ियों में बड़े बड़े वीर महात्मा छिपे रहते हैं। पुस्तकों और अखबारों को पढ़ने से या विद्वानों के व्याख्यानों को सुनने से तो बस ड्राइङ्ग हाल के वीर पैदा होते हैं, उनकी वीरता अनजान लोगों से अपनी स्तुति सुनने तक खतम हो जाती है। असली वीर तो दुनिया की बनावट और लिखावट के मखौलों के लिये नहीं जीते।

हर बार दिखाव और नाम की खातिर छाती ठोककर आगे बढ़ना और फिर पीछे हटना पहले दर्ज की बुजदिली है। वीर तो यह समझता है कि मनुष्य का जीवन एक जरा-सी चीज है। वह सिर्फ एक बार के लिये काफी है। मानो इस बंदूक में एक ही गोली है। हाँ, कायर पुरुष इसको बड़ा ही कीमती और कभी न टूटने वाला हथियार समझते हैं। हर घड़ी आगे बढ़कर और यह दिखाकर कि हम बड़े हैं, वे फिर पीछे इस गरज़ से हट जाते हैं कि उनका अनमोल जीवन किसी और अधिक बड़े काम के लिये बच जाय। बादल गरज गरजकर ऐसे ही चले जाते हैं, परंतु बरसने वाले बादल जरा देर में बारह इंच तक बरस जाते हैं। उसे खुद गर्म और सर्द होने से क्या मतलब? कारलायल को जो आज कल की सभ्यता पर गुस्सा आया तो दुनिया में एक नई शक्ति और एक नई जबान पैदा हुई। कारलायल अङ्गरेज जरूर है, पर उसकी बोली सबसे निराली है। उसके शब्द मानो आग की चिनगारियाँ हैं जो आदमी के दिलों में आग सी लगा देती हैं। सब कुछ बदल जाय मगर कारलायल की गर्मी कभी कम न होगी। यदि हजार वर्ष संसार में दुखड़े और दर्द रोए जायँ तो भी बुद्धि की शांति और दिल की ठंडक एक दर्जा भी इधर उधर न होगी। यहाँ आकर भौतिक विज्ञान के नियम रो देते हैं। हजारों वर्ष आग जलती रहे तो भी थर्मामीटर जैसा का तैसा ही रहेगा। बाबर के सिपाहियों ने और लोगों के साथ गुरु नानक को भी बेगार में पकड़ लिया। उनके सिर पर बोझ रखा और कहा—"चल"। आप चल पड़े। दौड़, धूप, बोझ, मुसीबत, बेगार में पकड़ी

हुई स्त्रियों का रोना, शरीफ लोगों का दुःख, गाँव के गाँव का जलना, इस किस्म की दुःखदायी बातें हो रही हैं। मगर किसी का कुछ असर नहीं हुआ। गुरु नानक ने अपने साथी मर्दाना से कहा—"सारंगी बजाओ, हम गाते हैं।" उस भीड़ में सारंगी बज रही है और आप गा रहे हैं। वाह री शांति।

अगर कोई छोटा सा बच्चा नेपोलियन के कंधेपर चढ़कर उसके सिर के बाल खींचे तो क्या नेपोलियन इसको अपनी बेइज्जती समझकर उस बालक को जमीन पर पटक देगा, जिससे लोग उसे बड़ा वीर कहें। इस तरह सच्चे वीर, जब उनके बाल दुनिया की चिड़ियाँ नोचती हैं, तब कुछ परवाह नहीं करते। क्योंकि उनका जीवन आसपास वालों के जीवन से निहायत ही बढ़चढ़ कर ऊँचा और बलवान् होता है। भला ऐसी बातोंपर वीर कब हिलते हैं। जब उनकी मौज आई तभी मैदान उनके हाथ है।

जापान के एक छोटे से गाँव की एक झोंपड़ी में छोटे कद का एक जापानी रहता था। उसका नाम ओशियो था। यह पुरुष बड़ा अनुभवी और ज्ञानी था। बड़े कड़े मिजाज का, स्थिर, धीर, और अपने खयालात में समुद्र में डूबे रहने वाला पुरुष था। आसपास रहने वालों के लड़के इस साधु के पास आया जाया करते थे, और यह उनको मुफ्त पढ़ाया करता था। जो कुछ मिल जाता वही खा लेता था। दुनिया की व्यवहारिक दृष्टि से वह एक किस्म का निखट्टू था। क्योंकि इस पुरुष ने संसार का कोई बड़ा काम नहीं किया था। उसकी सारी उम्र शांति और सत्वगुण में गुजर गई थी। लोग समझते थे कि वह एक मामूली आदमी है। एक दफा इतिफाक से दो तीन फसलों के न होने से इस फकीर के आसपास के मुल्क में दुर्भिक्ष पड़ गया। दुर्भिक्ष बड़ा भयानक था। लोग बड़े दुखी हुए। लाचार होकर इस नंगे कंगाल फकीर के पास मदद माँगने आए। उसके दिल में कुछ खयाल हुआ। उनकी मदद करने को वह तैयार हो गया।

कायर पुरुष कहते हैं—"आगे बढ़े चलो।" वीर कहते हैं—"पीछे हटे चलो।" कायर कहते हैं-"उठाओ तलवार"। वीर कहते हैं—"सिर आगे करो"। वीर का जीवन प्रकृति ने अपनी शक्तियों को फजूल खो देने के लिये नहीं बनाया है। वीर पुरुष का शरीर कुदरत की कुल ताकतों का भण्डार है। कुदरत का यह मरकज हिल नहीं सकता। सूर्य का चक्कर हिल जाये तो हिल जाये परन्तु वीर के दिल में जो दैवी केन्द्र है वह अचल है। कुदरत के और पदार्थों की पालीसी चाहे आगे बढ़ने की हो, अर्थात अपने बल को नष्ट करने की हो। मगर वीरों की पालीसी बल को हर तरह इकट्ठा करने और बढ़ाने की होती है। वीर तो अपने अंदर ही 'मार्च' करते हैं; क्योंकि हृदयाकाश के केन्द्र में खड़े हो कर वे कुल संसार को हिला सकते हैं।

बेचारी मरियम का लाडला, खूब सूरत जवान, अपने मद में मत वाला और अपने आपको शाहशाह हकीकी कहने वाला ईसा मसीह क्या उस समय कमजोर मालूम होता है जब भारी सलीब पर उठ कर कभी गिरता, कभी जख्मी होता और कभी बेहोश हो जाता है? कोई पत्थर मारता है, कोई ढेला मारता है, कोई थूकता है मगर उस मर्द का दिल नहीं हिलता। कोरे क्षुद्र हृदय और कायर होता तो अपनी बादशाहत के बल की गुत्थियाँ खोल देता, अपनी ताकत को नष्ट कर देता; और संभव है कि एक निगाह में उस सल्तनत के तख्ते को उलट देता और मुसीबत को टाल देता, परन्तु जिसको हम मुसीबत जानते हैं उसको वह मखौल समझता था। "सूली मुझे है सेज पिया की सोने दो मीठी नींद है आती"। अमर ईसा को भला दुनिया के विषय विकार में डूबे लोग क्या जान सकते थे? अगर चार चिड़ियाँ मिल कर मुझे फाँसी का हुक्म सुना दें और मैं उसे सुनकर रोदूँ या डर जाऊँ तो मेरा गौरव चिड़ियों से भी कम हो जाय। जैसे चिड़ियाँ मुझे फाँसी दे कर उड़ गईं वैसे ही, बादशाह और बादशाहतें आज खाक में मिल गई हैं। सचमुच ही वह छोटा सा बाबा लोगों का सच्चा बादशाह है। चिड़ियां और जानवर

की कचहरियों के फैसले से डरते या मरते हैं वे मनुष्य नहीं हो सकते। राना जी ने जहर के प्याले से मीराबाई को डराना चाहा। मगर वाह री सचाई। मीरा ने उस जहर को भी अमृत मान कर पी लिया। वह शेर और हाथी के सामने गई, मगर वाह रे प्रेम! मस्त हाथी और शेर ने देवी के चरणों की धूल को अपने मस्तक पर मला और अपना रास्ता लिया। इस वास्ते वीर पुरुष आगे नहीं, पीछे जाते हैं। भीतर ध्यान करते हैं। मारते नहीं मरते हैं।

वह वीर क्या जो टीन के बर्तन की तरह झट गर्म और झट ठंडा हो जाता है। सदियों नीचे आग जलती रहे तो भी शायद ही वीर गर्म हो और हजारों वर्ष बर्फ उस पर जमती रहे तो भी क्या मजाल जो उस की वाणी तक ठंडी हो। पहले वह ओसाको नामक शहर के बड़े बड़े धनाढ्य और भद्र पुरुषों के पास गया और उनसे मदद माँगी। इन भले मानुसों ने वादा तो किया, पर उसे पूरा न किया। ओशियो फिर उनके पास कभी न गया। उसने बादशाह के वजीरों को पत्र लिखे कि इन किसानों को मदद देनी चाहिए। परंतु बहुत दिन गुजर जाने पर भी जवाब न आया। ओशियो ने अपने कपड़े और किताबें नीलाम कर दीं। जो कुछ मिला, मुट्ठी भरकर उन आदमियों की तरफ फेंक दिया। भला इससे क्या हो सकता था? परंतु ओशियो का दिल इससे पूर्ण शिव रूप होगया। यहां इतना जिक्र कर देना काफी होगा कि जापान के लोग अपने बादशाह को पिता की तरह पूजते हैं। उनके हृदय की यह एक वासना है। ऐसी कौम के हजारों आदमी इस वीर के पास जमा हैं। ओशियो ने कहा—"सब लोग हाथ में बाँस लेकर तैयार हो जाओ और बगावत का झंडा खड़ा कर दो।" कोई भी चूँ व चरा न कर सका। बगावत का झंडा खड़ा होगया। ओशियो एक बाँस पकड़ कर सब के आगे किओटो जाकर बादशाह के किले पर हमला करने के लिये चला। इस फकीर जनरल की फौज की चाल को कौन रोक सकता था? जब शाही किले के सरदार ने देखा तब उसने रिपोर्ट की और आज्ञा माँगी कि

ओशियो और उसकी बागी फौज पर बदूकों की बाढ छोडी जाय ? हुक्म हुआ कि "नहीं, ओशियो तो कुदरत के मज्ज वर्कों को पढ़ने वाला है। वह किसी खास बात के लिये चढ़ाई करने आया होगा। उसको हमला करने दो और आने दो।" जब ओशियो किले मे दाखिल हुआ तब वह सरदार इस मस्त जनरल को पकड़ कर बादशाह के पास ले गया। उस वक्त ओशियो ने कहा —" ये राज भंडार, जो अनाज से भरे हुए हैं, गरीबों की मदद के लिये क्यों नहीं खोल दिये जाते ?"

जापान के राजा को डर सा लगा। एक वीर उसके सामने खड़ा था, जिसकी आवाज मे दैवी शक्ति थी। हुक्म हुआ कि शाही भंडार खोल दिया जाय और सारा अन्न दरिद्र किसानो को बॉटा जाय। सब सेना और पुलिस धरी की धरी रह गई। मंत्रियो के दफ्तर लगे के लगे रहे। ओशियो ने जिस काम पर कमर बांधी उसको कर दिखाया। लोगों की विपत्ति कुछ दिनो के लिये दूर होगई। ओशियो के हृदय की सफाई, सच्चाई और दृढता के सामने भला कौन ठहर सकता था ? सत्य की सदा जीत होती है। यह भी वीरता का एक चिह्न है। रूस के जार ने सब लोगों को फांसी देदी। किंतु टाल्सटाय को वह दिल से प्रणाम करता था, उनकी बातों का आदर करता था। जय वहीं होती है जहां कि पवित्रता और प्रेम है। दुनिया किसी कूड़े ढेर पर नहीं खड़ी है कि जिस मुर्गे ने बॉंग दी वही सिद्ध होगया। दुनिया धर्म और अटल आध्यात्मिक नियमो पर खड़ी है। जो अपने आपको उन नियमों के साथ अभिन्नता करके खड़ा हुआ वह विजयी होगया। आजकल लोग कहते हैं कि काम करो, काम करो। पर हमें तो ये बातें निरर्थक मालूम होती हैं। पहले काम करने का बल पैदा करो—अपने अंदर ही अंदर वृक्ष की तरह बढ़ो। आजकल भारतवर्ष मे परोपकार करने का बुखार फैल रहा है। जिसको १०५ डिग्री का यह बुखार चढ़ा वह आजकल के भारतवर्ष का ऋषि होगया। आजकल भारतवर्ष मे अखबारों की टकसाल मे गढ़े हुए वीर दर्जनों मिलते हैं। जहां किसी ने एक दो काम किए और आगे बढ़कर छाती

दिखाई वहां हिन्दुस्तान के सारे अखबारों ने "हीरो" और "महात्मा" की पुकार मचाई। बस एक नया वीर पैदा होगया। ये तो पागलपन की लहरें हैं। अखबार लिखने वाले मामूली सिक्के के मनुष्य होते हैं। उनकी स्तुति और निन्दा पर क्यों मरे जाते हो? अपने जीवन को अखबारों के छोटे छोटे पैराग्राफों के ऊपर क्या लटका रहे हो? क्या यह सच नहीं कि हमारे आजकल के वीरों की जानें अखबारों के लेखों में हैं? जहां इन्होंने रंग बदला कि हमारे वीरों के रंग बदले, ओठ सूखे और वीरता की आशाएँ टूट गईं।

प्यारे, अंदर के केन्द्र की ओर अपनी चाल उलटो और इस दिखावटी और बनावटी जीवन की चंचलता में अपने आपको न खोदो। वीर नहीं तो वीरों के अनुगामी हो और वीरता के काम नहीं तो धीरे धीरे अपने अंदर वीरता के परमाणुओं को जमा करो।

जब हम कभी वीरों का हाल सुनते हैं तब हमारे अंदर भी वीरता की लहरें उठती हैं और वीरता का रंग चढ़ जाता है। परन्तु वह चिरस्थायी नहीं होता। उसका कारण सिर्फ यही है कि हमारे भीतर वीरता का मसाला तो होता नहीं। हम सिर्फ खाली महल उसके दिखलाने के लिये बनाना चाहते हैं। टीन के बर्तन का स्वभाव छोड़कर अपने जीवन के केन्द्र में निवास करो और सच्चाई की चट्टान पर दृढ़ता से खड़े हो जाओ। अपनी जिन्दगी किसी और के हवाले करो ताकि जिन्दगी के बचाने की कोशिशों में कुछ भी वक्त जाया न हो। इसलिये बाहर की सतह को छोड़कर जीवन के अंदर की तहों में घुस जाओ, तब नये रंग खुलेंगे। द्वेष और भेद दृष्टि छोड़ो, रोना छूट जायगा, प्रेम और आनंद से काम लो, शांति की वर्षा होने लगेगी और दुखड़े दूर हो जायेंगे। जीवन के तत्त्व का अनुभव करके चुप हो जाओ, धीर और गंभीर हो जाओगे। वीरों की, फकीरों की, पीरों की यह कूक है - हटो पीछे अपने अंदर जाओ, अपने आपको देखो, दुनिया और की और हो जायगी। अपनी आत्मिक उन्नति करो।

———

—: जीवन में साहित्य का स्थान :—

साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है। उसकी अटारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को भी जी नहीं चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है, इसलिये अनंत है, अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है, इसलिये सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिये कानून हैं, जिनसे वह इधर उधर नहीं हो सकता। जीवन का उद्देश्य ही आनंद है। मनुष्य जीवन पर्यन्त आनंद ही की खोज में पड़ा रहता है। किसी को वह रत्न, द्रव्य में मिलता है, किसी को भरे-पूरे परिवार में, किसी को लंबे-चौड़े भवन में, किसी को ऐश्वर्य में, लेकिन साहित्य का आनंद, इस आनंद से ऊंचा है, इससे पवित्र है, उसका आधार सुन्दर और सत्य है। वास्तव में सच्चा आनंद सुन्दर और सत्य में मिलता है, उसी आनंद को दर्शाना, वही आनंद उत्पन्न करना, साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनंद में ग्लानि छिपी होती है। उसमें अरुचि भी हो सकती है, पश्चाताप हो सकता है, पर सुन्दर से जो आनंद प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।

साहित्य के नव रस कहे गये हैं। प्रश्न होगा, वीभत्स में भी कोई आनंद है? अगर ऐसा न होता, तो वह रसों में गिना ही क्यों जाता। हाँ, है। वीभत्स में सुन्दर और सत्य मौजूद है। भारतेंदु ने श्मशान का जो वर्णन किया है वह कितना वीभत्स है। प्रेतों और पिशाचों का अध जले मांस के लोथड़े नोचना, हड्डियों को चटर-चटर चबाना, वीभत्स की पराकाष्ठा है, लेकिन वह वीभत्स होते हुए भी सुन्दर है, क्योंकि उसकी सृष्टि पीछे आने वाले स्वर्गीय दृश्य के आनंद को तीव्र करने के लिये ही

हुई है। साहित्य तो हर रूप में सुन्दर खोजता है—राजा के महल में, रंक की झोपड़ी में, पहाड़ के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर ऊषा की लाली में, सावन-भादों की अंधेरी रात में। और यह आश्चर्य की बात है कि रंक की झोपड़ी में जितनी आसानी से सुन्दर मूर्तिमान दिखाई देता है, महलों में नहीं। महलों में तो वह खोजने से मुश्किलों से मिलता है। जहाँ मनुष्य अपने मौलिक यथार्थ प्राकृतिक रूप में है, वहीं आनंद है। आनंद कृत्रिमता और आडम्बर से कोसों भागता है। सत्य का कृत्रिम से क्या संबंध? अतएव हमारा विचार है कि साहित्य में केवल एक रस है और वह शृंगार है। कोई रस साहित्यिक-दृष्टि से रस नहीं रहता और न उस रचना की गणना साहित्य में की जा सकती है, जो शृंगार विहीन और अ-सुन्दर हो। जो रचना केवल वासना-प्रधान हो, जिसका उद्देश्य कुत्सित भावों को जगाना हो, जो केवल बाह्य जगत से संबंध रक्खे, वह साहित्य नहीं है। जासूसी उपन्यास अद्भुत होता है, लेकिन हम उसे साहित्य उसी वक्त कहेंगे, जब उसमें सुन्दर का समावेश हो, खूनी का पता लगाने के लिये सतत् उद्योग, नाना प्रकार के कष्टों का झेलना, न्याय मर्यादा की रक्षा करना, ये भाव हैं, जो इस अद्भुत रस की रचना को सुन्दर बना देते हैं।

सत्य से आत्मा का संबंध तीन प्रकार का है। एक जिज्ञासा का संबंध है, दूसरा प्रयोजन का संबंध है और तीसरा आनंद का। जिज्ञासा का संबंध दर्शन का विषय है, प्रयोजन का संबंध विज्ञान का विषय है। और साहित्य का विषय केवल आनंद का संबंध है। सत्य जहाँ आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। जिज्ञासा का संबंध विचार से है, प्रयोजन का संबंध स्वार्थ-बुद्धि से। आनंद का संबंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है। एक ही दृश्य या घटना या काण्ड को हम तीनों ही भिन्न-भिन्न नजरों से देख सकते हैं। हिम से ढके हुए पर्वत पर उषा का दृश्य दार्शनिक के लिये

गहरे विचार की वस्तु है, वैज्ञानिक के लिये अनुसंधान की, और साहित्यिक के लिए विह्वलता की! विह्वलता एक प्रकार का आत्म-समर्पण है। यहाँ हम पृथकता का अनुभव नहीं करते। यहाँ ऊँच-नीच भले बुरे का भेद नहीं रह जाता। श्रीरामचन्द्रजी शबरी के झूठे बेर क्या प्रेम से खाते हैं, कृष्ण भगवान् विदुर के शाक को क्यों नाना व्यंजनों से रुचिकर समझते हैं, इसलिये कि उन्होंने उस पार्थक्य को मिटा दिया है। उनकी आत्मा विशाल है। उसमें समस्त जगत के लिये स्थान है। आत्मा आत्मा से मिल गई है। जिसकी आत्मा, जितनी ही विशाल है, वह उतना ही महापुरुष है। यहा तक कि ऐसे महान् पुरुष भी हो गये हैं, जो जड़ जगत से भी अपनी आत्मा का मेल कर सके हैं।

आइये देखें, जीवन क्या है? जीवन केवल जीना, खाना, सोना और मर जाना नहीं है। यह तो पशुओं का जीवन है। मानव जीवन में भी यह सब प्रवृत्तियाँ होती हैं, क्योंकि वह भी तो पशु है। पर, इनके उपरांत कुछ और भी होता है। उनमें कुछ ऐसी मनोवृत्तियाँ होती हैं, जो प्रकृति के साथ हमारे मेल में बाधक होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं, जो इस मेल में सहायक बन जाती हैं। जिन प्रवृत्तियों में प्रकृति के साथ हमारा सामंजस्य बढ़ता है, वह वाञ्छनीय होती हैं, जिनसे सामंजस्य में बाधा होती है, वे दूषित हैं। अहंकार, क्रोध या द्वेष हमारे मन की बाधक प्रवृत्तियाँ हैं। यदि हम इनको बेरोक-टोक चलने दें, तो निस्संदेह वे हमें नाश और पतन की ओर ले जाएँगी। इसलिये हमें उनकी लगाम रोकनी पड़ती है, उन पर संयम रखना पड़ता है, जिसमें वे अपनी सीमा से बाहर न जा सकें। हम उन पर जितना कठोर संयम रख सकते हैं, उतना ही मंगलमय हमारा जीवन हो जाता है।

किन्तु नटखट लड़कों से डाटकर कहना तुम बड़े बदमाश हो, हम तुम्हारे कान पकड़ कर उखाड़ लेंगे। अक्सर व्यर्थ ही होता है, बल्कि उस प्रवृत्ति को और हठ की ओर ले जाकर पुष्ट कर देता है। जरूरत

यह होती है, कि बालक में जो सद्वृत्तियाँ हैं, उन्हें ऐसा उत्तेजित किया जाय, कि दूषित वृत्तियाँ स्वाभाविक रूप से शान्त हो जाएँ। इसी प्रकार मनुष्य को भी आत्मविकास के लिए नरम की आवश्यकता होती है. साहित्य ही मनोविकारों के रहस्य खोलकर सद्वृत्तियों को जगाता है। सत्य को रसों-द्वारा हम जितनी आसानी से प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञान और विवेक द्वारा नहीं कर सकते. उसी भाँति, जैसे दुलार-चुमकारकर बच्चों को जितनी सफलता से वश में किया जा सकता है, डाँट-फटकार से संभव नहीं। कौन नहीं जानता कि प्रेम से कठोर-से-कठोर प्रकृति को नरम किया जा सकता है। साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है। यही कारण है, कि हम उपनिषदों और अन्य धर्म-ग्रंथों को साहित्य की सहायता लेते देखते हैं! हमारे धर्माचार्यों ने देखा कि मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव मानव-जीवन के दुःख-सुख के वर्णन से ही हो सकता है और उन्होंने मानव-जीवन की वे कथाएँ रचीं, जो आज भी हमारे आनन्द की वस्तु हैं। बौद्धों की जातक-कथाएँ, तौरेत, कुरान, इंजील ये सभी मानवीय कथाओं के संग्रह-मात्र हैं। उन्हीं कथाओं पर हमारे बड़े-बड़े धर्म स्थिर हैं। वही कथाएँ धर्मों की आत्माएँ हैं। उन कथाओं को निकाल दीजिये, तो उस धर्म का अस्तित्व मिट जायगा। क्या उन धर्म प्रवर्तकों ने अकारण ही मानवी-जीवन की कथाओं का आश्रय लिया? नहीं. उन्होंने देखा कि हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना संदेश पहुँचाया जा सकता है। वे स्वयं विशाल हृदय के मनुष्य थे उन्होंने मानम-जीवन से अपनी आत्मा का मेल कर लिया था। समस्त मानव जाति से उनके जीवन का सामंजस्य था, फिर भी मानव-चरित्र की उपेक्षा कैसे करते?

आदिकाल से मनुष्य के लिये सबसे समीप मनुष्य है। हम जिसके सुख-दुःख, हँसने-रोने का मर्म समझ सकते हैं, उसीसे हमारी आत्मा का

अधिक मेल होता है। विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन से, कृषक को कृषक जीवन से जितनी रुचि है, उतनी अन्य जातियों से नहीं; लेकिन साहित्य-जगत् में प्रवेश पाते ही यह भेद, यह पथिक्य मिट जाता है। हमारी मानवता जैसे विशाल और विराट् होकर समस्त मानव-जाति पर अधिकार पा जाती है। मानव जाति ही नहीं, चर और अचर, जड और चेतन सभी उसके अधिकार में आ जाते हैं। उसे मानो विश्व की आत्मा पर सामान्य प्राप्त हो जाता है। श्री रामचन्द्र राजा थे; पर आज रक भी उनके दुःख से उतना ही प्रभावित होता है, जितना कोई राजा हो सकता है। साहित्य वह जादू की लकड़ी है जो पशुओं में ईंट-पत्थरों में, पेड-पोधों में भी विश्व की आत्मा का दर्शन करा देती है। मानव हृदय का जगत, इस प्रत्यक्ष जगत जैसा नहीं है। हम मनुष्य होने के कारण मानव जगत के प्राणियों में अपने को अधिक पाते हैं, उसके सुख-दुख, हर्ष और विषाद से ज्यादा विचलित होते हैं। हम अपने निकटतम देश बन्धुओं से अपने को इतना निकट नहीं पाते, इसलिये कि हम उनके एक-एक विचार, एक-एक उद्गार को जानते हैं। उनका मन हमारी नजरों के सामने आईने की तरह खुला हुआ है। जीवन में ऐसे प्राणी हमें कहाँ मिलते हैं, जिनके अंतःकरण में हम स्वाधीनता से विचर सकें। सच्चे साहित्यकार का यही लक्षण है कि उसके भावों में व्यापकता हो, उसने विश्व की आत्मा से ऐसी Harmony प्राप्त करली हो कि उसके भाव प्रत्येक प्राणी को अपने ही भाव मालूम हों।

साहित्यकार बहुधा अपने देश काल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिये उससे अविचलित रहना असंभव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देश बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश होकर भी सार्व-

मोहित रहता है। 'टॉम काका की कुटिया' गुलामी की प्रथा से व्यथित हृदय की रचना है पर आज उस प्रथा के उठ जाने पर भी उसमें वह व्यापकता है कि हम लोग भी उसे पढ़कर मुग्ध हो जाते हैं। सच्चा साहित्य कभी पुराना नहीं होता। वह सदा नया बना रहता है। दर्शन और विज्ञान समय की गति के अनुसार बदलते रहते हैं पर साहित्य तो हृदय की वस्तु है और मानव-हृदय में तब्दीलियाँ नहीं होतीं। हर्ष और विस्मय, क्रोध और द्वेष, आशा और भय, आज भी हमारे मन पर उसी तरह अधिकृत हैं, जैसे आदि कवि वाल्मीकि के समय में थे और कदाचित अनन्त तक रहेंगे। रामायण का समय अब नहीं है महाभारत का समय भी अतीत हो गया, पर ये ग्रन्थ अभी तक नये हैं। साहित्य ही सच्चा इतिहास है क्योंकि उसमें अपने देश और काल का जैसा चित्र होता है, वैसा कोरे इतिहास में नहीं हो सकता। घटनाओं की तालिका इतिहास नहीं है, और न राजाओं की लड़ाइयाँ ही इतिहास है। इतिहास जीवन के विभिन्न अंगों की प्रगति का नाम है, और जीवन पर साहित्य से अधिक प्रकाश और कौन वस्तु डाल सकती है, क्योंकि साहित्य अपने देश-काल का प्रतिबिम्ब होता है।

जीवन में साहित्य की उपयोगिता के विषय में कभी-कभी संदेह किया जाता है। कहा जाता है, जो स्वभाव से अच्छे हैं, वह अच्छे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। जो स्वभाव से बुरे हैं वह बुरे ही रहेंगे, चाहे कुछ भी पढ़ें। इस कथन में सत्य की मात्रा बहुत कम है। इसे सत्य मान लेना मानव-चरित्र को बदल देना होगा। जो सुन्दर है, उसकी ओर मनुष्य का स्वाभाविक आकर्षण होता है। हम कितने ही पतित हो जायँ पर असुन्दर की ओर हमारा आकर्षण नहीं हो सकता। हम कर्म चाहे कितने ही बुरे करें, पर यह असंभव है कि करुणा और दया और प्रेम और भक्ति का हमारे दिलों पर असर न हो। नादिरशाह से ज्यादा निर्दयी मनुष्य और कौन हो सकता है—हमारा आशय दिल्ली में कत्ले-

आम कराने वाले नादिरशाह से है। अगर दिल्ली का कत्लेआम सत्य घटना है, तो नादिरशाह के निर्दय होने में कोई संदेह नहीं रहता। उस समय आपको मालूम है, किस बात से प्रभावित होकर उसने कत्लेआम को बंद करने का हुक्म दिया था? दिल्ली के बादशाह का वजीर एक रसिक था। जब उसने देखा कि नादिरशाह का क्रोध किसी तरह नहीं शांत होता और दिल्ली वालों के खून की नदी बहती चली जाती है, यहाँ तक कि खुद नादिरशाह के मुँह लगे अफसर भी उसके सामने आने का साहस नहीं करते, तो वह हथेलियों पर जान रखकर नादिरशाह के पास पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

'कसे न मॉद कि दीगर ब तेगे नाज कुशी।
मगर कि जिंदा कुनी खल्क राव बाज कुशी॥'

इसका अर्थ यह है कि तेरे प्रेम की तलवार ने अब किसी को जिंदा न छोड़ा। अब तो तेरे लिए इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है कि तू मुर्दों को फिर जिला दे और फिर उन्हें मारना शुरू करे। यह फारसी के एक प्रसिद्ध कवि का शृंगार विषयक शेर है; पर इसे सुनकर कातिल के दिल में मनुष्य जाग उठा। इस शेर ने उसके हृदय के कोमल भाग को स्पर्श कर दिया और कत्लेआम तुरंत बंद कर दिया गया। नेपोलियन के जीवन की यह घटना प्रसिद्ध है, जब उसने एक अंग्रेज मल्लाह को झाऊ की नाव पर ढेले का समुद्र पार करते देखा। जब फ्रांसीसी अपराधी मल्लाह को पकड़कर नेपोलियन के सामने लाये और उसने पूछा—तू इस भंगुर नौका पर क्यों समुद्र पार कर रहा था, तो अपराधी ने कहा—इसलिए कि मेरी बूढ़ी माता घर पर अकेली है, मैं उसे एक बार देखना चाहता था। नेपोलियन की आँखों में आँसू छलछला आये। मनुष्य का कोमल भाग स्पंदित हो उठा। उसने उस सैनिक को फ्रांसीसी नौका पर इंग्लैंड भेज दिया। मनुष्य स्वभाव से देवतुल्य है। जमाने के छल-प्रपंच या और परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह अपना देवत्व खो

बैठता है। साहित्य इसी देवत्व को अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करता है—उपदेशों से नहीं, नसीहतों से नहीं, भावों को स्पंदित करके मन के कोमल तारों पर चोट लगाकर, प्रकृति से सामंजस्य उत्पन्न करके हमारी सभ्यता साहित्य पर ही आधारित है। हम जो कुछ हैं, साहित्य के ही बनाये हैं। विश्व की आत्मा के अंतर्गत भी राष्ट्र या देश की एक आत्मा होती है। इसी आत्मा की प्रतिध्वनि है साहित्य। योरप का साहित्य उठा लीजिये। आप वहाँ संघर्ष पायेंगे। कहीं खूनी काण्डों का प्रदर्शन है, कहीं जासूसी कमाल का। जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है। उस साहित्य का परिणाम यही है कि वैयक्तिक स्वार्थ-परायणता दिन-दिन बढ़ती जाती है, अर्थ-लोलुपता की कहीं सीमा नहीं, नित्य दंगे, नित्य लड़ाइयाँ। प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तोली जा रही है। यहाँ तक कि अब किसी यूरोपियन महात्मा का उपदेश सुन कर भी सन्देह होता है कि इसके परदे में स्वार्थ न हो। साहित्य सामाजिक आदर्शों का स्रष्टा है। जब आदर्श ही भ्रष्ट हो गया, तो समाज के पतन में बहुत दिन नहीं लगते। नई सभ्यता का जीवन १५० साल से अधिक नहीं पर अभी से संसार उससे तंग आ गया है, पर उसके बदले में उसे कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल रही है, जिसे वहाँ स्थापित कर सके। उसकी दशा उस मनुष्य की-सी है, जो यह तो समझ रहा है कि वह जिस रास्ते पर जा रहा है वह ठीक रास्ता नहीं है, पर वह इतनी दूर जा चुका है कि अब लौटने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। वह आगे ही जायगा, चाहे उधर कोई समुद्र ही क्यों न लहरें मार रहा हो। उसमें नैराश्य का हिंसक बल है, आशा की उदार शक्ति नहीं। भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। योरप का कोई व्यक्ति लखपति होकर, जायदाद खरीद कर, कंपनियों में हिस्से लेकर, और ऊँची सोसाइटी में मिलकर अपने को कृतकार्य समझता है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है, जब वह इस माया-बंधन से मुक्त हो जाता है, जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता। किसी राष्ट्र की सबसे

मूल्यवान संपत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं। व्यास और वाल्मीकि ने जिन आदर्शों की सृष्टि की, वह आज भी भारत का सिर ऊँचा किए हुए हैं। राम अगर वाल्मीकि के साँचे मे न ढलते, तो राम न रहते। सीता भी उसी साँचे मे ढलकर सीता हुई। यह सत्य है कि हम सब ऐसे चरित्रों का निर्माण नहीं कर सकते, पर धन्वन्तरि के एक होने पर भी ससार के वैद्यो की आवश्यकता रही है और रहेगी।

ऐसा महान् दायित्व जिस पर है, उसके निर्माताओं का पद कुछ कम जिम्मेदारी का नहीं है। कलम हाथ मे लेते ही हमारे सिर बड़ी भारी जिम्मेदारी आजाती है। साधारणतः युवावस्था मे हमारी निगाह पहले विध्वंश करने की ओर उठ जाती है। हम सुधार क़रने की धुन मे अन्धाधुन्ध शर चलाना शुरू करते हैं। खुदाई फौजदार बन जाते हैं। तुरत आँखे काले धब्बो की ओर पहुँच जाती हैं। यथार्थवाद के प्रवाह मे बहने लगते हैं। बुराइयो के नग्न चित्र खींचने मे कला की कृतकार्यता समझते हैं। यह सत्य है कि कोई मकान गिराकर ही उसकी जगह नया मकान बनाया जाता है। पुराने ढकोसलो और बंधनो को तोड़ने की जररत है, पर इसे साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य तो वही है, जो साहित्य की मर्यादाओं का पालन करे। हम अक्सर साहित्य का मर्म समझे बिना ही लिखना शुरू कर देते हैं। शायद हम समझते हैं कि मजेदार, चटपटी और ओज पूर्ण भाषा लिखना ही साहित्य है। भाषा भी साहित्य का एक अंग है, पर स्थायी-साहित्य विध्वंस नहीं करता निर्माण करता है। वह मानव-चरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलताएं दिखाता है। मकान गिराने वाला इंजीनियर नहीं कहलाता। इंजीनियर तो निर्माण ही करता है। हम मे जो युवक साहित्य को अपने जीवन का ध्येय बनाना चाहते हैं, उन्हे बहुत आत्म-संयम की आवश्यकता है। क्योंकि वह अपने को एक महान् पद के लिए तैयार कर रहा है जो अदालतों मे बहस करने या कुर्सी पर बैठकर मुकदमे

पालना करने से कहीं ऊंचा है। उसके लिये केवल डिग्रियां और ऊंची शिक्षा काफी नहीं। चित्त की साधना, संयम, सौंदर्य, तत्व का ज्ञान, इनकी कहीं ज्यादा जरूरत है। साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए। भावों का परिमार्जन भी उतना ही वांछनीय है। जब तक हमारे साहित्य-सेवी इस आदर्श तक न पहुंचेंगे, तब तक हमारे साहित्य से मंगल की आशा नहीं की जा सकती। अमर साहित्य के निर्माता विलासी प्रवृत्ति के मनुष्य नहीं थे। वाल्मीकि और व्यास दोनो तपस्वी थे। सूर और तुलसी भी विलासिता के उपासक न थे। कबीर भी तपस्वी ही थे। हमारा साहित्य अगर आज उन्नति नहीं करता, तो इसका कारण यही है कि हमने साहित्य रचना के लिये कोई तयारी नहीं की। दो-चार नुसखे याद करके हकीम बन बैठे। साहित्य का उत्थान राष्ट्र का उत्थान है और हमारी ईश्वर से यही याचना है कि हम में सच्चे साहित्य सेवी उत्पन्न हों, सच्चे तपस्वी, सच्चे आत्म ज्ञानी।

कवि कौन है ?

कवि कौन है ? यजुर्वेद के चालीसवे अध्याय का आठवा मन्त्र यह है "कविर्मनीषी परिभूः स्वयभू." परमात्मा कवि है, मनीषी है, सर्वव्यापी है और स्वयमेव है। इन नामो मे परमात्मा को सर्व प्रथम कवि नाम से क्यों अभिहित किया गया है ? इसलिये कि ब्रह्मस्तम्भ पर्यन्त जो कुछ इन्द्रिय गोचर है उसमे उसकी अलौकिक मार्मिकता और अनिर्वचनीय कवि-कर्म का विकास है। चाहे आप हिमधवल पर्वत मान ले, चाहे उत्ताल तरंग तोयनिधि, चाहे लहरीलीला संकुल सरिता, चाहे शस्य श्यामला धरित्रि, चाहे फल-कुसुम भारावनत तरूपुंज, चाहे सुनील निर्मल गगन, चाहे तेजः पुंज-कलेवर मरीचिमाली, चाहे सरससुधास्रावी मयंक, चाहे चमत्कारमय तारकसमूह, चाहे कोमलकान्त शरीर, चाहे एक रजकण आप जिसे लेगे उसी मे उस अनत-लीलामय की अलौकिक काव्य कला दृष्टिगोचर होगी। उसीमे उसकी अभूतपूर्व मार्मिकता दिखाई पड़ेगी। यही सब अद्भुत व्यापार सर्वप्रथम मानवदृष्टि को उसकी ओर आकर्षित करते है। इसलिये सर्वप्रथम उसका परिचय कवि नाम द्वारा ही दिया गया है। मन, बुद्धि, हृदय, नेत्र और मस्तिष्क की रचना मे जो मार्मिकता लक्षित होती है, जो अनिर्वचनीय प्रतिभा प्रतिभासित होती है, उसकी इयत्ता नहीं हो सकती। यह वह अगाध समुद्र है, जो आज भी अनवगाहित है, परन्तु जिसने उसका जितना ही अधिक भेद जाना है, इस जटिल ग्रन्थि को जितना ही खोला है, इस असीम और अनन्त अथच नितान्त मनोमुग्धकर अपार पारावार मे जितना ही अधिक अवगाहन किया है, वह उतना ही अधिक भाग्यशाली और उतना ही अधिक उच्च पदारूढ है। उसके द्वारा इस मंगलमयी सृष्टि का जितना हित साधन होता है, मानव समूह वा वरन् प्राणिमात्र का जितना श्रेय होता है अन्य द्वारा उतना होना असम्भव है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, [illegible]", 'ईश्वर अंश जीव अविनाशी', ये वाक्य हमको

अभेद का पाठ पढ़ाते हैं, बतलाते हैं कि जीवन यदि अविद्याग्रस्त नहीं है, तो वह समझ सकता है कि वह क्या है? शेली का कथन है कि "सुन्दर और साधारण दृश्यों को देखकर बच्चों के मुंह से आनन्द की किलकारी निकलती है, उच्चतर सौन्दर्य की अभिव्यक्ति से कवि का आनन्द भी वैसे ही काव्यरूप में उछल पड़ता है। पहला मरणाधीन है परन्तु दूसरा अमर है। कवि उस अनन्त और एक का अंश है और इसी कारण उस अनन्त लीलामय की लीलाओं पर अपनी लीला का स्वांग रचने वाला, उसके अनन्त सौन्दर्यमय दृश्यों द्वारा अपनी सौंदर्यमयी कविता को सजीव बनानेवाला, उसकी अलौकिक भावमयी रचना की कलित कुसुमावली द्वारा अपनी कविताकामिनी को सुसज्जित करनेवाला, उसके औदार्य आदि महान गुणों की मंजु मुक्ता द्वारा अपने मानस को सजानेवाला एक सहृदय जन भी कवि नाम से ही पुकारा जाता है। अग्निपुराण में लिखा है—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सु दुर्लभा।
कवित्त्व दुर्लभ तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभम् ॥

नरत्व दुर्लभ है, विद्याप्राप्ति उससे दुर्लभ है, कवित्व उससे दुर्लभ है, शक्ति उससे भी दुर्लभ है। हमीं नहीं कहते कि 'प्राणभृत्सुनरा श्रेष्ठाः' अन्य लोग भी कहते हैं कि 'इन्सान अशरफुलमखलूकात है,' इसीलिये नरत्व दुर्लभ है नरत्व प्राप्त होने पर विद्वान होना कठिन है। आप लोग स्वयं जानते हैं कि मनुष्यों में कितने वास्तव में विद्वान हैं। विद्वानों से उच्च कवित्व अर्थात् कवि का पद है और इसलिए शायद महात्मा तुलसीदास कहते हैं 'कवि न होऊँ नहीं चतुर कहाऊँ'। थोड़ी सी काव्य-प्रतिभा पाकर अथवा काव्य रचने में लब्धप्रतिष्ठ होकर किम्वा साहित्य निर्माण में स्वाभाविक योग्यता लाभकर अनेक विद्वान् न जाने क्या-क्या कह जाते हैं। हमारे पण्डितराज जगन्नाथ कहते हैं—

मधु द्राक्षा साक्षादमृतमथवामाधर सुधा
कदाचित्केषाञ्चित्खलु हि विदधीरन्न विमुदम्।
ध्रुवन्ते जीवन्तोऽप्यहह मृतका मंद मतयो
न येषामानन्दं जनयति जगन्नाथ भणितिः॥

शहद, अंगूर, अमृत और कामिनी कुल का आ अधरामृत कभी किसी को ही आनन्दित करते हैं। परन्तु वे मूर्ख तो जीते हुए ही मृतक तुल्य हैं जिन्हे कि पण्डितराज जगन्नाथ की कविता आनद न दे।

उर्दू के मशहूर शायर नासिख फरमाते हैं—

इक तिफ्ल दबिस्ता है फलातू मेरे आगे,
क्या मुँह है अरस्तू जो करेचूँ मेरे आगे।
क्या माल भला कमरे फरेदूँ मेरे आगे,
काँपे है पटा गुम्बदे गरदूँ मेरे आगे। इत्यादि·····

परन्तु, कवि चक्र चूडामणि महामान्य महात्मा तुलसीदास कहते हैं—'कवि न होऊँ', क्यों? ऐसा वे क्यों कहते हैं? इसलिए कि 'जेहि जानि जग जाय हेराई' अथवा 'आरा कि खबर शुद खबरश बाज नयामद', वे जानते हैं कि कवि शब्द का क्या महत्त्व है और इसीलिये वे कहते हैं कि

की गंभीर ध्वनि यही है। उन्होंने इस वाक्य द्वारा यह तो प्रकट किया है कि मैं कवि नहीं हूँ। किंतु, उनके इस वाक्य का गांभीर्य ही यह प्रकट करता है कि वे कितने योग्य कवि थे। हम लोगों को भी उन्हीं का पदानुसरण करना चाहिए। हम लोगों को अपनी समाज-सेवा द्वारा, अपने भावोद्यान के सुमनों द्वारा, अपनी कवितालता के मनोरभिन दलों द्वारा मनोराज्य के विपुल विभव द्वारा, प्रतिभा-भांडार के बहुमूल्य मणि द्वारा, हृदय के सरस प्रवाह द्वारा, देश के लिये, जाति के लिये, लोकोपकार के लिये उत्सर्गांकित जीवन होना चाहिए। जनता आप ही कहेगी कि हम कौन हैं। काम चाहिए, नाम नहीं। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। एलिजाबेथ ब्राउनिंग का कथन है कि 'कवि सौंदर्य का ईश्वर प्रेरित आचार्य हैं'। मेथ्यू आर्नल्ड कहते हैं—"जिनके काव्य में मानव-जीवन की गुप्त समस्याएँ प्रतिफलित होती हैं और सौंदर्य के साथ उन गूढ़ समस्याओं का समन्वय होता है, वही कवि है"। कार्लाइल का वचन है—"कवि और भविष्यवक्ता एक ही प्रकार का मंगल समाचार सुनाते हैं। जो कवि है वही वीर है। सत्य और काव्य दोनों एक ही वस्तु हैं। काव्य की जीवन धारा सत्य है। जो कवि है, वही सच्चा शिक्षक है।" टेनिसन कहता है—"सिर पर अनेक ताराओं का मुकुट धारण किए सोने के देश में कवि ने जन्म धारण किया था। घृणा की घृणा, उपेक्षा की उपेक्षा और प्रेम का प्रेम यही उसको भेंट में मिला था। उसकी दृष्टि जीवन और मरण के बीच से भले और बुरे के भीतर से होकर दूर तक देखती है।" जो कवि नाम के अधिकारी हैं उनको इन पंक्तियों का अवतार होना चाहिये, अन्यथा कवि कहलाना परमात्मा के पुनीत नाम का अपमान करना है।

कवि-कर्म

कवि-कर्म के विषय में सूत्र रूप से ऊपर कुछ कहा गया है, उसकी व्याख्या आवश्यक है। कविता और काव्य ही कवि-कर्म है। शेक्सपियर का कथन है—"कवि की दृष्टि स्वर्ग से पृथ्वी और पृथ्वी से स्वर्ग तक आती जाती रहती है। उसकी कल्पना अज्ञात को मूर्तिमान कर देती और लेखनी उस पर रंग चढ़ा कर उसे मर्त्यलोक का सा नाम-धाम दे डालती है।" अरस्तू का कथन है "साधारणतः सब प्रकार की ललित कलाओं की भाँति काव्य का भी स्वाभाविक गुण प्रकृति का अनुकरण करना ही है। प्रकृति का अर्थ सृष्टिपदार्थमयी बाह्य प्रकृति नहीं है वरन् मेरा अभिप्राय विश्व की सृष्टिक्षमशक्ति और उसमें छिपे हुए ध्रुव सत्य से है। काव्य इतिहास की अपेक्षा महत् और दार्शनिक विचार से पूर्ण होता है। यह विश्वव्यापी मूल पदार्थ की अभिव्यक्ति है।" वर्ड्सवर्थ बतलाते हैं—"काव्य एक सत्य है, वह सत्य स्थानीय वा व्यक्ति विशेष के लिये सीमाबद्ध नहीं है, वह सर्वसाधारण की वस्तु है। वह बड़ा ही शक्तिशाली है। मनोवृत्ति की गति की भाँति वह भी बिलकुल हृद्गत बात है। बाह्य प्रमाण के ऊपर उसकी स्थिति नहीं है। काव्य प्रकृति और मानव की प्रतिमूर्ति है। कवि के लिये कोई पराया नहीं। वह सबको आनंद देने और सब को सन्तुष्ट करने के लिये बाध्य है। सत्य की एक महान् कल्पना के भीतर कवि और भविष्यवक्ता एक दूसरे के साथ एक ही सम्बन्ध में गुँथे हुए हैं। ये दोनों सबको अपना बनालेते हैं। इसकी उनमें ईश्वर की दी हुई विशेष शक्ति वर्तमान है। उनके ज्ञान चक्षुओं के सामने अदृष्टपूर्व और नये नये दृश्यपट खुलते हैं। महान् कवि के विशाल हृदयगगन में धर्म की राजधानी है।"

यह तो कवि-कर्म की परिभाषा हुई। उसका व्यवहारिक रूप क्या हो सकता है, यह विषय विचारणीय है। हम लोगों के अमर महाकाव्य

रामायण और महाभारत हैं। कुछ दिन हुए मद्रास प्रान्त में व्याख्यान देते हुए एक विद्वान् ने कहा था कि "यदि हमारा सर्वस्व छिन जावे तो भी कोई चिन्ता नहीं, यदि रामायण और महाभारत जैसे हमारे बहुमूल्य मणी सुरक्षित रहे। इन दोनों ग्रन्थों में वह संजीवनी शक्ति है कि जब तक इनका सुधा-स्रोत प्रवाहित होता रहेगा हिंदू जाति अजर अमर रहेगी। जिस दिन यह सुधा-स्रोत बंद होगा उसी दिन हिंदू-जीवन और हिंदू सभ्यता दोनों निर्मूल हो जावेगी।" उनके इस कथन का क्या मर्म है? उन्होंने किस सिद्धान्त पर आरूढ़ हो कर यह कथन किया? वास्तव में बात यह है कि ये ग्रन्थ हिंदू-सभ्यता के आदर्श हैं हमारी गौरव गरिमा के विशाल स्तम्भ हैं. इनमें हमारे हृदय का मर्म स्वर्णाक्षरों में अंकित है हमारे सुख दुःख का, हमारे उत्थान पतन का ज्वलंत उदाहरण इनमें मौजूद है। आर्य्य सभ्यता कैसे उत्पन्न हुई, कैसे परिवर्द्धित हुई, किन किन घात-प्रतिघातों में पड़ी, फिर कैसे सुरक्षित रही, इसका उनमें सुन्दर निरूपण है। उनमें सामयिक चित्र हैं, आदर्शमूलक विचार हैं, समुन्नति के महामन्त्र हैं, सिद्धि के सूत्र हैं, व्यवहार के प्रयोग हैं, सफलता के साधन हैं। उनमें कामद कल्पलतिका है, फलप्रद कल्पतरु है, संजीवनी जड़ी है, अमर बेली है और चारु चिन्तामणि है। प्रयोजन यह है कि किसी जीवित जाति के लिये जीवन यात्रा निर्वाह की जितनी उपयोगी सामग्री है, वह सब उनमें मौजूद है और यही कारण है कि वे आजतक उसके जीवन सर्वस्व हैं। प्रत्येक सहृदय कवि को इन्हीं ग्रन्थों को आदर्श मानकर कार्यक्षेत्र में उदारता और सहृदयता में साथ उत्तीर्ण होने की आवश्यकता है। आज हमारे लिए जो विष है उसका त्याग और जो अमृत है उसका ग्रहण आवश्यक है। कवि की दृष्टि प्रखर होनी चाहिये। उसको समाज के भीतर की गूढ़ से गूढ़ बातों को छिपे से छिपे रहस्य को उद्घाटन करना चाहिए और उसके गुण दोष की समुचित विवेचना करके दोष के निराकरण और गुण के संवर्धन और संरक्षण के लिये बद्ध परिकर होना चाहिये। यदि उसमें सच्चा आत्म उत्सर्ग है, वास्तविक सत्यप्रियता

है, यदि उसका हृदय उन्नत है, उदार है, निरपेक्ष है, संयत है, तो उसकी लेखनी जाति के लिये सञ्जीवनी धारा होगी और उसका कविता कलाप समाज पर सुधा-वर्षण करेगा। वैतालिक जिस समय इदङ्कुतः में रत रह कर मानव हृदय को उपपत्तियों में उलझाता है और उसे पेचीली बातों में फँसा कर भूल भुलयाँ में डाल देता है उसी समय कवि अपनी रस मयी वाणी से उसको सरस कर देता है और उसमें उत्साह और स्फूर्ति के वह बीज वापन कर देता है जो उसके लिये तत्काल फलप्रद होते हैं। कवि के एक-एक शब्द, कविता की एक-एक पङ्क्ति में वह जीवन शक्ति होती है और वह इतनी प्रभावशालिनी होती है कि जाति के उत्थान पतन में, मानव हृदय के सम्बोधन में, चित्त के वशीकरण में जादू का सा काम देती है। कवि-पुंगव सूरदास के सामने दो मनुष्य उपस्थित हुए। ये दोनों विद्वान थे, शङ्कासमाधान और वाद की निवृत्ति के लिये उनकी सेवा में आये थे, एक कहता—'कुल बड़ा,' दूसरा कहता—'संगति बड़ी'। घंटों लड़ झगड़ कर भी जब किसी सिद्धांत पर उपनीत न हुए तो उनको उक्त महात्मा को पञ्च मानना पड़ा। उन्होंने उनकी बातों को सुन कर तत्काल निम्न लिखित दोहा पढ़ा—जिसने ऐसे गूढ़ प्रश्न की मीमांसा तुरत कर दी—

स्वाति बूँद सीपी मुकुत कदली भयो कपूर।
नाग के मुख विख भयो संगति केवल सूर॥

भी विदीर्ण हो रहा है, दिन-दिन उसकी संख्या क्षीण हो रही है, उसके हृदय धन, उसके नेत्रों के तारे उससे अलग हो रहे हैं। आज भी बाल विवाह का आर्त्तनाद कर्णगत हो रहा है। वृद्ध-विवाह आज भी समाज को विध्वस्त कर रहा है। आर्य्य सतान कहलाकर महर्षि कुल में जन्म लेकर, भगवती भारत माता की गोद में पल कर आज भी हम कन्या-विक्रय कर रहे हैं। आज भी हम कुसुम कोमला-बालिका को धन के लिये, थोडे से अर्थ के लिये, हम तृष्णापिशाचिनी के सामने बलिप्रदान कर रहे हैं। यदि मंदिरों में अकाण्ड ताण्डव है, तो सुरसुरी-पुनीत तट पर पैशाचिक नृत्य है। कहीं धर्म की ओट में सतीत्व हरण हो रहा है, कहीं भभूत पर विभूति निछावर हो रही है। आज मनोमालिन्य का अखण्ड राज्य है, अविश्वास और अंधविश्वास की दुन्दुभी बज रही है। क्या कहें, किस किस बात को कहे, जी यही कहता है—

क्या पूछते हो हमदम इस जिस्म नातवाँ की।
रग-रग में नेशे गम है कहिये कहाँ-कहाँ की॥

पर इस दर्द की दवा कौन करेगा, कौन इस बिगडी को बनावेगा, कौन हमारी नाडी टटोलेगा, कौन गिरती जाति को उठावेगा, कौन उजड़े घर को बनावेगा और कौन हमारी उलझी को सुलझावेगा? आँख बहुतों की ओर जाती है पर हृदय यही कहता है 'एक सच्चा कवि'। इस सच्चे कवि शब्द पर खटकना न चाहिये, हृदय में दर्द होने पर सच्चा कवि सभी हो सकते हैं। प्रतिभा किसी जातिविशेष और मनुष्यविशेष की बाँट में नहीं पडी है। हमारे उत्साही कविगण आवें और इस क्षेत्र में कार्य करें। उनके पुरुषार्थ और कवित्व बल से भारत माता का मुख उज्ज्वल होगा और उनकी कीर्त्ति कौमुदी से वसुधा धवलित हो जावेगी। आज दिन यदि कोई महदनुष्ठान है तो यही, तदश्चर्या है तो यही कि जैसे हो वैसे जाति के कुरोग विदूरित किये जावें। कवि की प्रौढ़ लेखनी का प्रौढ़त्व और कवि की मार्मिकता का महत्त्व इसी में है कि वह प्रसुप्त

जातियों को जगावे, उसके रोम रोम में वैद्युतिक प्रवाह प्रवाहित करे और उसको उस महान मंत्र से दीक्षित करे, जो उसको सगौरव संसार में जीवित रहने का साधन हो। एक दिन साहित्य-संसार शृंगार-रस में प्लावित था, उसी की आनंद-भेरी जहाँ देखो, वहाँ निनादित थी। समय प्रवाह ने अब रुचि को बदल दिया है, लोगों के नेत्र खुल गए हैं, कविगण अपना कर्त्तव्य अब समझ गए हैं। इस समय यदि आवश्यकता है तो तदीयता की आवश्यकता है। आजदिन भारतमाता यही कह रही है—

मन्मना भवमद्भक्त मद्याजी मां नमस्कुरु,
सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

क्या उसका यह कथन सहृदय कविगण उत्कर्ण होकर सुनेंगे?

कवि-कर्म्म का यह पहला पहलू है, दूसरा पहलू उसका साहित्य संबंधी है। मैं इस विषय में भी कुछ कथन कर अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा। कवि-कर्म्म बहुत दुःसह है, जब तक सर्वसाधारण की दृष्टि से कवि की दृष्टि विलक्षण न होगी, वह कवि-कर्म्म का अधिकारी न हो सकेगा। गजराज को सिर पर धूल डालते हुए चलते सभी देखते हैं पर किसी में एक बारीक बात सहृदयवर रहीम खाँ खानखाना ने ही देखी और निमुग्ध होकर कहा—

छार मुण्ड मेलत रहत कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज ऋषिपत्नी तरी सो ढूँढत गजराज॥

चम्पा की हृदय लुभावनी छवि किसको नहीं लुभाती, पर एक सहृदय कवि-हृदय ने ही यह बात निकाली—

चम्पा तो में तीन गुण, रूप रंग औ बास।
औगुण तो में एक है, भौंर न बैठत पास॥

कवि-कर्म्म नहीं है। तुकबन्दी करना कवि-कर्म्म नहीं है। कविवर ठाकुर कहते हैं—

ठाकुर जो तुक जोरनहार उदार कविंदन की सरि के हैं।
एक दिना फिर तो कर्नार, कुम्हार हू सो झगरो बनि ऐ हैं॥

यदि मूर्त्ति खड़ी कर देने से ही काम चलता तो कर्नार और कुम्हार में अंतर ही क्या है? बात तो है सजीवता की ओर इसीलिये विद्वानों ने कहा है—

किं कवेस्तस्य काव्येन किं काण्डेन धनुष्मतः,
परस्यहृदये लग्नं न घूर्णयति यच्छिरः।
जाके लागत ही तुरत सिर ना डुलै सुजान,
ना वह कवित न कविकथन ना वह तान न बान॥

दूसरा कवि-कर्म्म है कोमल-कांत पदावली। आजकल की कर्णकटु भाषा में कविता करना कवि-कर्म्म नहीं है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं'—जिस वाक्य में रस नहीं वह काव्य संज्ञा का अधिकारी नहीं। जो रस प्रसादगुणमयी कविता में होता है अन्य में नहीं, और प्रसादगुण के लिये कोमलकांत पदावली आवश्यक है। उर्दू का एक कवि कहता है 'जेरे कदमे वालिदा फिरदौस बरीं है", दूसरा कहता है-'जुनूं पसंद है मुझ को हवा बबूलों की, अजब बहार है इन जर्द जर्द फूलों की'। तीसरा कहता है, 'दिल मलगये गेसुओं में फँस के, कुम्हला गये फूल रात बस के'। अब आप सोचिये, इनमें कौन अधिक सरस है, वही जिसकी कोमलकांत पदावली है।

तीसरा कवि-कर्म्म है शब्द-विन्यास। शब्दों की काट-छाँट और उन का यथोचित स्थान पर संस्थान। यह कार्य बड़ी ही मार्मिकता का है।

वर्त्तमान कविताओं में इसकी बड़ी त्रुटि है। इस कार्य के लिये एक अच्छे समालोचक-पत्र की आवश्यकता है। किंतु खेद है कि हिंदी-ससार इससे शून्य है। आजकल की समालोचनायें ईर्षा-द्वेष मूलक अधिक होती हैं। इसी से जैसा चाहिए वैसा उपकार नहीं हो सकता है। समालोचनायें सहृदयतामयी और उदार होनी चाहिए जिसको विरोधी भी स्वीकार करने को बाध्य हो। उचित समालोचनायें और कविता की समुचित काट-छाँट बहुत ही सुफलप्रद है और वैसा ही उपकारक है जैसा उद्यान के छोटे २ पौधों की काट-छाँट। कुछ प्रमाण लीजिये। हजरत आतश के सामने उनके शागिर्द सबा ने यह शेर पढ़ा—'मौसिमे गुल में यह कहता है कि गुलशन से निकल, ऐसी बेपर की उड़ाता न था सैय्याद कभी'। शेर बहुत अच्छा है मगर उस्ताद ने कहा कि अगर तुम यों कहते कि 'पर कतर करके यह कहता है कि गुलशन से निकल', तो शेर और भी बढ़ जाता। वास्तव में पर कतरने के साथ बेपर उड़ाने की बात ने कमाल कर दिया। एक मुशायरे में एक लड़के ने यह शेर पढ़ा, 'जिस कमसुखन ने मैं कहाँ तकरीर बोल उठे, मुझ में कमाल वह है कि तस्वीर बोल उठे। हजरत नासिख ने इस शेर की बड़ी प्रशंसा की। हजरत आतश ने कहा 'कम सखुन की जगह यदि 'बेजबाँ' होता तो शेर बोल उठता, क्योंकि तस्वीर को कमसखुनी से कोई वास्ता नहीं। वास्तव में बहुत अच्छी इसलाह है। यह न समझिए कि उस्ताद आतश नहीं चूकते थे। एक बार मुशायरे में उन्होंने यह शेर पढ़ा 'सुर्मा मंजूरे नजर रहता है चश्मे-यार को, नील का गंडा पिनहाया मर्दुमे बीमार को' हजरत नासिख ने कहा—वाह, क्या कहा है; 'नील का गंडा पिन्हाया मर्दुमे बीमार को'। आतश ताड़ गये, बोले—नील का गंडा नहीं, 'नीलगूँ' गंडा पिन्हाया मर्दुमे बीमार को। भाव यह कि इस तरह की छील-छाल और काट-छाँट बहुत ही उपयोगिनी और कवि को समुचित शब्द सन्धान की शिक्षा देने के लिए बहुत ही हितकारिणी है।

———

उत्साह

दुःख के वर्ग मे जो स्थान भय का है, आनन्दवर्ग मे वही स्थान उत्साह का है। भय मे हम प्रस्तुत कठिन स्थिति के निश्चय से विशेष रूप में दुःखी और कभी कभी उस स्थिति से अपने को दूर रखने के लिए प्रयत्नवान भी होते हैं। उत्साह से हम आने वाली कठिन स्थिति के भीतर साहस के अवसर के निश्चय-द्वारा प्रस्तुत कर्म-सुख की उमग मे अवश्य प्रयत्नवान् होते हैं। उत्साह मे कष्ट या हानि सहने की दृढता के साथ-साथ कर्म मे प्रवृत्त होने के आनन्द का योग रहता है। साहसपूर्ण आनन्द की उमङ्ग का नाम उत्साह है। कर्म सौंदर्य के उपासक ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं।

जिन कर्मों मे किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित होता है उन सब के प्रति उत्कंठापूर्ण आनन्द उत्साह के अन्तर्गत लिया जाता है। कष्ट या हानि के भेद के अनुसार उत्साह के भी भेद हो जाते हैं। साहित्य-मीमांसकों ने इसी दृष्टि से युद्ध-वीर, दान-वीर दया-वीर इत्यादी भेद किए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और प्रधान युद्ध-वीरता है, जिसने आघात, पीडा क्या मृत्यु तक की परवाह नहीं रहती। इस प्रकार की वीरता का प्रयोजन अत्यन्त प्राचीन काल से पडता चला आ रहा है, जिसमे साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर पहुँचते हैं। केवल कष्ट या पीडा सहन करने के साहस मे ही उत्साह का स्वरूप स्फुटित नहीं होता। उसके साथ आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कंठा का योग चाहिए। बिना बेहोश हुए भारी फोडा चिराने को तैयार होना साहस कहा जायगा, पर उत्साह नहीं। इसी प्रकार चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये घोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस और कठिन-से-कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायगी। ऐसे साहस और धीरता को उत्साह के अंतर्गत तभी ले सकते हैं जब कि साहसी या

और उस काम को आनंद के साथ करता चला जायगा जिसके कारण उसे इतने प्रहार सहने पड़ते हैं। सारांश यह है कि आनंदपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का दर्शन होता है, केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं। धृति और साहस दोनों का उत्साह के बीच संचरण होता है।

दान-वीर में अर्थ त्याग का साहस अर्थात् उसके कारण होने वाले कष्ट या कठिनता को सहने की क्षमता अंतर्हित रहती है। दान-वीरता तभी कही जायगी जब दान के कारण दानी को अपने जीवन निर्वाह में किसी प्रकार का कष्ट या कठिनता दिखाई देगी। इस कष्ट या कठिनता की मात्रा या संभावना जितनी ही अधिक होगी, दानवीरता उतनी ही ऊँची समझी जायगी। पर इस अर्थ त्याग के साहस के साथ ही जबतक पूर्ण तत्परता और आनद के चिह्न न दिखाई पड़ेंगे तब तक उत्साह का स्वरूप न खड़ा होगा।

युद्ध के अतिरिक्त संसार में और भी ऐसे विकट काम होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है और प्राण-हानि तक की संभावना रहती है। अनुसंधान के लिए तुषार-मंडित अभ्रभेदी, अगम्य पर्वतों की चढ़ाई, ध्रुव देश या सहारा के रेगिस्तान का सफर, क्रूर बर्बर जातियों के बीच अज्ञात घोर जंगलों में प्रवेश इत्यादि भी पूरी वीरता और पराक्रम के कर्म हैं। इनमें जिस आनद-पूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त हुए हैं वह भी उत्साह ही है।

हैं कि उनके त्याग से वे बुरे कहे जायँगे लोगों में उनका उतना आदर-सम्मान न रह जाएगा। उनके लिए मान-ग्लानि का कष्ट सब शारीरिक क्लेशों से बढ़कर होता है। जो लोग मान अपमान का कुछ भी ध्यान न करके, निंदा-स्तुति की कुछ भी परवाह न करके किसी प्रचलित प्रथा के विरुद्ध पूर्ण तत्परता और प्रसन्नता के साथ कार्य करते जाते हैं वे एक ओर तो उत्साही और वीर कहलाते हैं दूसरी ओर भारी बेहया।

किसी शुभ परिणाम पर दृष्टि रखकर निंदा-स्तुति, मान अपमान आदि की कुछ भी परवाह न करके प्रचलित प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले वीर या उत्साही कहलाते हैं, यह देखकर बहुत से लोग केवल इस बिरुद के लोभ में ही अपनी उछल कूद दिखाया करते हैं। वे केवल उत्साही या साहसी कहे जाने के लिए ही चली आती हुई प्रथाओं को तोड़ने की धूम मचाया करते हैं। शुभ या अशुभ परिणाम से उनसे कोई मतलब नहीं उसकी ओर उनका ध्यान लेशमात्र नहीं रहता। जिस पक्ष के बीच की सुख्याति का वे अधिक महत्त्व समझते हैं उसकी वाह-वाही से उत्पन्न आनंद की चाह में वे दूसरे पक्ष के बीच की निंदा या अपमान की कुछ परवाह नहीं करते। ऐसे ओछे लोगों के साहस या उत्साह की अपेक्षा उन लोगों का उत्साह या साहस भाव की दृष्टि से कहीं अधिक मूल्यवान है जो किसी प्राचीन प्रथा की चाहे वह वास्तव में हानि-कारिणी ही हो—उपयोगिता का सच्चा विश्वास रखते हुए प्रथा तोड़ने वालों की निंदा, उपहास, अपमान आदि सहा करते हैं।

समाज सुधार के वर्तमान आंदोलनों के बीच जिस प्रकार सच्ची अनुभूति से प्रेरित उच्चाशय और गंभीर-पुरुष पाए जाते हैं उसी प्रकार तुच्छ मनोवृत्तियों द्वारा प्रेरित साहसी और दयावान भी बहुत मिलते हैं। मैंने कई छिछोरों और लपटों को विधवाओं की दशा पर दया दिखाते हुए उनके पापाचार के बड़े लंबे-चौड़े दास्तान हर दम सुनते सुनाते पाया है। ऐसे लोग वास्तव में काम-कथा के रूप में ऐसे वृत्तांतों का

तन्मयता के साथ कथन और श्रवण करते हैं। इस ढाँचे के लोगों से सुधार के कार्य में कुछ सहायता पहुँचने के स्थान पर बाधा पहुँचने ही की संभावना रहती है। 'सुधार' के नाम पर साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोग गंदगी फैलाते पाए जाते हैं।

उत्साह की गिनती अच्छे गुणों में होती है। किसी भाव के अच्छे या बुरे होने का निश्चय अधिकतर उसकी प्रवृत्ति के शुभ या अशुभ परिणाम के विचार से होता है। वही उत्साह जो कर्त्तव्य कर्मों के प्रति इतना सुन्दर दिखाई पड़ता है, अकर्त्तव्य कर्मों की ओर होने पर वैसा श्लाघ्य नहीं प्रतीत होता। आत्म-रक्षा, पर-रक्षा, देश-रक्षा आदि के निमित्त साहस की जो उमंग देखी जाती है उसके सौंदर्य को परपीड़न डकैती आदि कर्मों का साहस कभी नहीं पहुँच सकता। यह बात होते हुए भी विशुद्ध उत्साह या साहस की प्रशंसा संसार में थोड़ी बहुत होती ही है। अत्याचारियों या डाकुओं के शौर्य और साहस की कथाएँ भी लोग तारीफ करते हुए सुनते हैं।

अब तक उत्साह का प्रधान रूप ही हमारे सामने रहा, जिसमें साहस का पूरा योग रहता है। पर कर्म मात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है वह भी उत्साह ही कहा जाता है। सब कामों में साहस अपेक्षित नहीं होता; पर थोड़े-बहुत आराम, विश्राम, सुबीते इत्यादि का त्याग सब में करना पड़ता है; और कुछ नहीं तो उठ कर बैठना, खड़ा होना या दस-पाँच कदम चलना ही पड़ता है। जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया व्यापार या उसकी भावना के साथ नहीं दिखाई पड़ता तब तक उसे 'उत्साह' की संज्ञा प्राप्त नहीं होती। यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप ज्यों-के-त्यों आनन्दित होकर बैठे रहें या थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जाएगा। जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए दौड़ पड़ेंगे और उसके ठहरने आदि के

प्रबन्ध में प्रसन्न-मुख दान-वीर आते-जाते दिखाई देंगे। [illegible] सफल उत्साह नामक आनंद के नियत लक्षण हैं।

प्रत्येक कर्म में थोड़ा या बहुत बुद्धि का योग भी रहता है। कुछ कर्मों में तो बुद्धि की तत्परता और शरीर की तत्परता दोनों बराबर साथ-साथ चलती हैं। उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से भी काम कराती है। ऐसे 'उत्साह' वाले वीर को कर्म-वीर कहना चाहिए या बुद्धि-वीर—यह प्रश्न मुद्राराक्षस नाटक बहुत अच्छी तरह हमारे सामने लाता है। चाणक्य और राक्षस के बीच जो चोटें चली हैं वे नीति की हैं—शस्त्र की नहीं। अतः विचार करने की बात यह है कि उत्साह की अभिव्यक्ति बुद्धि-व्यापार के अवसर पर होती है अथवा बुद्धि-द्वारा निश्चित उद्योग में तत्पर होने की दशा में। हमारे देखने में तो उद्योग की तत्परता में ही उत्साह की अभिव्यक्ति होती है, अतः कर्म-वीर ही कहना ठीक है।

बुद्धि-वीर के दृष्टांत कभी कभी हमारे पुराने ढंग के शास्त्रार्थों में देखने को मिल जाते हैं। जिस समय किसी भारी शास्त्रार्थी पंडित से भिड़ने के लिए कोई विद्यार्थी आनंद के साथ सभा में आगे आता है उस समय उसके बुद्धि-साहस की प्रशंसा अवश्य होती है। वह जीते या हारे, बुद्धि-वीर समझा ही जाता है। इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही समझी जायगी। ये वाग्वीर आज-कल बड़ी २ सभाओं के मंचों पर से लेकर स्त्रियों के उठाए हुए पारिवारिक प्रपञ्चों तक में पाए जाते हैं और काफी तादाद में।

थोड़ा यह भी देखना चाहिए कि उत्साह में ध्यान किस पर रहता है—कर्म पर, उसके फल पर अथवा व्यक्ति या वस्तु पर। हमारे विचार में उत्साही वीर का ध्यान आदि से अंत तक पूरी कर्म शृंखला पर से होता हुआ उसकी सफलता रूपी समाप्ति तक फैला रहता है। इसी ध्यान

से जो आनंद की तरंगे उठती हैं वे ही सारे प्रयत्न को आनंदमय कर देती हैं। युद्ध-वीर में विजेतव्य जो आलंबन कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि विजेतव्य कर्म प्रेरक के रूप में वीर के ध्यान में स्थित रहता है। वह कर्म के स्वरूप का भी निर्धारण करता है। पर आनंद और साहस के मिश्रित भाव का सीधा लगाव उसके साथ नहीं रहता। सच पूछिए तो वीर के उत्साह का विषय विजय-विधायक कर्म या युद्ध ही रहता है। दान-वीर, दया-वीर और धर्म वीर पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दान दयावश, श्रद्धावश या कीर्ति लोभ वश दिया जाता है। यदि श्रद्धा-वश दान दिया जा रहा है तो दान-पात्र वास्तव में श्रद्धा का और यदि दया वश दिया जा रहा है तो पीड़ित यथार्थ में दया का विषय या आलंबन ठहरता है। अतः उस श्रद्धा या दया की प्रेरणा से जिस कठिन या दुस्साध्य कर्म की प्रवृत्ति होती है उत्साही का साहस पूर्ण आनंद उसी की ओर उन्मुख कहा जा सकता है। और रसों में आलंबन का स्वरूप जैसा निर्दिष्ट रहता है वैसा वीर रस में नहीं। बात यह है कि उत्साह एक यौगिक भाव है जिसमें साहस और आनंद का मेल रहता है।

जिस व्यक्ति या वस्तु पर प्रभाव डालने के लिए वीरता दिखाई जाती है उसकी ओर उन्मुख कर्म होता है और कर्म की ओर उन्मुख उत्साह नामक भाव होता है। सारांश यह कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह का सीधा लगाव नहीं होता। समुद्र लांघने के लिए जिस उत्साह के साथ हनुमान उठे उसका कारण समुद्र नहीं—समुद्र लांघने का विकट कर्म है। कर्म भावना ही उत्साह उत्पन्न करता है—वस्तु या व्यक्ति की भावना नहीं।

1. कर्म भावना से उत्पन्न,

2. फल-भावना से उत्पन्न और

3. आगंतुक, अर्थात् विषयान्तर से प्राप्त।

इनमें कर्म-भावना-प्रसूत आनंद को ही सच्चे वीरों का आनंद समझना चाहिए, जिसमें साहस का योग प्रायः बहुत अधिक रहा करता है। सच्चा वीर जिस समय मैदान में उतरता है उस समय उसमें इतना आनंद भरा रहता है जितना औरों को विजय या सफलता प्राप्त करने पर होता है। उसके सामने कर्म और फल के बीच या तो कोई अंतर होता ही नहीं या बहुत सिमटा हुआ होता है। इसी से कर्म की ओर वह उसी झोंक से लपकता है जिस झोंक से साधारण लोग फल की ओर लपका करते हैं। इसी कर्म-प्रवर्तक आनंद की मात्रा के हिसाब से शौर्य और साहस का स्फुरण होता है।

फल की भावना से उत्पन्न आनंद भी साधक कर्मों की ओर हर्ष और तत्परता के साथ प्रवृत्त करता है। पर फल का लोभ जहाँ प्रधान रहता है वहाँ कर्म-विषयक आनंद उसी फल की भावना की तीव्रता और मंदता पर अवलंबित रहता है। उद्योग के प्रवाह के बीच जब-जब फल की भावना मंद पडती है—उसकी आशा कुछ धुंधली पड जाती है, तब-तब आनंद की उमंग गिर जाती है और उसी के साथ उद्योग में भी शिथिलता आ जाती है। पर कर्म-भावना प्रधान उत्साह बराबर एक रस रहता है। फलासक्त उत्साही असफल होने पर खिन्न और दुखी होता है, पर कर्मासक्त उत्साही केवल कर्मानुष्ठान के पूर्व की अवस्था में हो जाता है। अतः हम कह सकते हैं कि कर्म भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है। फल-भावना-प्रधान उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है।

उत्साह वास्तव में कर्म और फल की मिली जुली अनुभूति है जिसकी प्रेरणा से तत्परता आती है। यदि फल दूर ही पर दिखाई पडे, उसकी

भावना के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगान मालूम हो तो हमारे हाथ-पांव कभी न उठे और उस फल के साथ हमारा सयोग ही न हो। इसमे कर्म-श्रृंखला की पहली कड़ी पकड़ते ही फल के आनंद की भी कुछ अनुभूति होने लगती है। यदि हमें यह निश्चय हो जाए कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो उस निश्चय के प्रभाव से हमारी यात्रा भी अत्यंत प्रिय हो जायगी। हम चल पड़ेंगे और हमारे अंगों की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। यही प्रफुल्लता कठिन-से-कठिन कर्मों के साधन मे भी देखी जाती है। वे कभी भी प्रिय हो जाते हैं और अच्छे लगने लगते है। जब तक फल तक पहुँचने वाला कर्म-पथ अच्छा न लगेगा तब तक केवल फल का अच्छा लगना कुछ नहीं। फल की इच्छा मात्र हृदय में रखकर जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनदशून्य होने के कारण निर्जीव-सा होगा।

कर्म-रुचि शून्य प्रयत्न मे कभी-कभी इतनी उतावली और आकुलता होती है कि मनुष्य साधना के उत्तरोत्तर कर्म का निर्वाह न कर सकने के कारण बीच में ही चूक जाता है। मान लीजिये कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी व्यक्ति को नीचे बहुत दूर तक गई हुई घाटियां दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने का ढेर मिलेगा। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि उक्त सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण-राशि के साथ एक प्रकार के मानसिक सयोग का अनुभव

मन ही उत्पन्न होकर रह जायगी, तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट से नीचे पहुँच जाएँ। उसे एक एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हार कर बैठ जाए या लड़खड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म बहुत कम या बहुत सरल करना पड़े और बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण ने कर्म मार्ग से फलासक्ति की प्रबलता हटाने का बहुत ही स्पष्ट उपदेश दिया, पर उनके समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से तो उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गर्मी में ब्राह्मण को एक पेठा देकर पुत्र की आशा करने लगे, चार आने रोज का अनुष्ठान कराके व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय, रोग से मुक्ति धन-धान्य की वृद्धि तथा और भी न जाने क्या क्या चाहने लगे। आसक्ति प्रस्तुत या उपस्थित वस्तु में ही ठीक कही जा सकती है। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे आसक्ति उसी में चाहिए; फल दूर रहता है इससे उसकी ओर कर्म का लक्ष्य ही काफी है। जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है।

कर्म के मार्ग पर आनंद पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अंतिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा कर्म न करने वाले की अपेक्षा अधिकतर अवस्थाओं में अच्छी रहेगी, क्योंकि एक तो कर्म-काल में उसका जितना जीवन बीता, वह संतोष या आनंद में बीता, उसके उपरांत फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने प्रयत्न नहीं किया। फल पहले से ही कोई बना-बनाया पदार्थ नहीं होता। अनुकूल प्रयत्न कर्म के अनुसार उसके एक-एक अंग की योजना होती है। बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित की हुई व्यापार-परंपरा का नाम ही प्रयत्न है किसी मनुष्य के घर का कोई प्राणी बीमार है। वह वैद्यों के

यहां से जब तक औषध ला-ला कर रोगी को देता जाता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता जाता है तब तक उसके चित्त में जो संतोष रहता है—प्रत्येक नये उपचार के साथ जो आनंद का उन्मेष होता रहता है—वह उसे कदापि न प्राप्त होता, यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। प्रयत्न की अवस्था में उसके जीवन का जितना अंश संतोष, आशा और उत्साह में बीता, अप्रयत्न की दशा में उतना ही अंश केवल शोक और दुःख में कटता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की दशा में भी वह आत्मग्लानि के उस कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया।

कर्म में आनंद अनुभव करने वालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के उच्च कर्मों के विधान में ही एक ऐसा दिव्य आनंद भरा रहता है कि कर्त्ता को कर्म ही फल-स्वरूप लगते हैं। अत्याचार का दमन और क्लेश का शमन करते हुए चित्त में जो उल्लास और तुष्टि होती है वही लोकोपकारी कर्म-वीर का सच्चा सुख है। उसके लिये सुख तब तक के लिये रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय; बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है और जब से वह कर्म की ओर हाथ बढ़ाता है।

कभी-कभी आनंद का मूल-विषय तो कुछ और रहता है, पर उस आनंद के कारण एक ऐसी स्फूर्ति उत्पन्न होती है जो बहुत से कामों की ओर हर्ष के साथ अग्रसर करती है। इसी प्रसन्नता और तत्परता को देख लोग कहते हैं कि वे काम बड़े उत्साह से किये जा रहे हैं। यदि किसी मनुष्य को बहुत सा लाभ हो जाता है या उसकी कोई बड़ी भारी कामना पूर्ण हो जाती है तो जो काम उसके सामने आते हैं उन सब को वह बड़े हर्ष और तत्परता के साथ करता है। उसके इस हर्ष और तत्परता को भी लोग उत्साह ही कहते हैं। इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनंद, फलोन्मुख प्रयत्नों के

अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर, उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है, यदि हम किसी ऐसे उद्योग में लगे हैं जिससे आगे चलकर हमें बहुत लाभ या सुख की आशा है तो हम उस उद्योग को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, अन्य कार्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं।

यह बात उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोविकारों में भी बराबर पाई जाती है। यदि हम किसी बात पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हम से कोई बात सीधी तरह से भी पूछता है तो भी हम उस पर झुंझला उठते हैं। इस झुंझलाहट का न तो कोई निर्दिष्ट कारण होता है, न उद्देश्य। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुंझलाहट द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। क्रोध को बनाये रखने के लिये हम उन बातों से भी क्रोध ही संचित करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भाव प्राप्त करते। इसी प्रकार यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित रहता है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह दिखा देते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ रहता है तो हम बहुत से काम प्रसन्नता-पूर्वक करने के लिये तैयार हो जाते हैं। इसी बात का विचार करके सलाम साधक लोग हाकिमों से मुलाकात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिजाज पूछ लिया करते हैं।



कला

सर्व-साधारण ा के दो ही अर्थो से परिचित हैं—१ विद्या, जैसे शास्त्र कला और २. कुशलता, जैसे सम्भाषण कला। पर इनसे बढ़कर और गहरा अर्थ भी कला का है। एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय में तद्वत् पहुँचाने या उद्दीप्त करने की विद्या का नाम भी कला है। भाषा जिस प्रकार एक मनुष्य के मस्तिष्क के विचारों को दूसरों तक पहुँचाने का साधन है उसी प्रकार कला एक के हृदय के भावों को दूसरे के हृदय तक ले जाने वाला वाहन है। जो व्यक्ति अपने हृदय में उठे शोक आनंद, विस्मय, करुणा आदि भावों को किसी उपकरण की सहायता से दूसरे के हृदय में तद्वत् जाग्रत कर पाता है, वह कलाकार कहा जाता है। कलाकार के उपकरण भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कोई अपने स्वर की विशिष्ट रचना के द्वारा, कोई अपने इंगित या अंग-विशेष द्वारा, कोई अपनी कलम या कूँची के द्वारा और कोई अपनी वाणी के द्वारा उन भावों को अपने हृदय से प्रकट और दूसरे के हृदय में जाग्रत करता है। अतएव किसी कलाधर का उपकरण होता है उसका स्वर, किसी का होता है उसका अंग विशेष, किसी की कलम और किसी की वाणी। स्वर के द्वारा अपनी कला का परिचय देने वाले को हम संगीत-पटु, अंग विशेष के द्वारा परिचय देने वाले को अभिनेता या नट, कलम के द्वारा देने वाले को चित्रकार और वाणी के द्वारा देने वाले को कवि कहते हैं। स्थापत्यकारों की गणना भी कलाकार में होती है। इस प्रकार उपकरण-भेद से कला के भिन्न-भिन्न भाग हो गये हैं—संगीत-कला, नाट्य कला,

सौंदर्य-सम्बन्धी धारणाएं भी उनके संस्कार के ही अनुरूप हो जाती हैं। चित्रकार और पत्रकार अक्सर उनकी सेवा के नाम पर उनकी रुचि की दुहाई देकर, ऐसे ही चित्रों के कृत्रिम नमूने पेश करते रहते हैं जिनसे उनके चित्र और पत्र बिक जाएं। सर्वसाधारण की ये संस्कारहीन धारणाएं ज्यों की त्यों बनी रहें तो रहें। इस कारण न सर्वसाधारण की कलाभिरुचि जाग्रत और परिष्कृत होती है न कला का विकास ही हो पाता है। वे बेचारे जान ही नहीं पाते कि अच्छा चित्र वह नहीं है जो आम तौर पर आंखों को सुन्दर मालूम हो, बल्कि वह है जिसे देखकर हृदय में उच्च, पवित्र, निर्मल भाव उदय हों। ऐसे भाव उठें जिनके द्वारा आचरण को सुधारने की, देश-सेवा, जन सेवा करने की, कायरता छोड़ने और पुरुषार्थ बढ़ाने की, दुर्व्यसन और दुराचार से मुँह मोड़ने और सद्गुणों की वृद्धि करने की उमंग मनमें पैदा हो। चित्र के अच्छे या बुरे होने की सबसे अच्छी कसौटी यह है कि उसे देख कर मनमें उपभोग करने की वासना न उत्पन्न हो। जैसे यदि किसी स्त्री के चित्र को देखकर मनमें कामुक अनुराग उत्पन्न हुआ, किसी सुन्दर दृश्य को देखकर वहां विलास करने की इच्छा पैदा हुई तो समझ लो कि यह चित्र अच्छा नहीं है। क्योंकि चित्र को चित्रित करते समय जो भाव चित्रकार के मन में प्रधान रूप से काम करता रहता है वही भाव चित्र में प्रस्फुटित होता है और वही सामान्यतः देखने वालों के मन पर अधिकार करता है। संक्षेप में कहें तो जिस चित्र को देखकर मनमें कुविचार उत्पन्न होते हों, बुरे भाव उत्पन्न होते हों, वह अधम है, उसे कला का नमूना नहीं कह सकते। चित्रकार अपनी कला के बल पर अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के भाव समाज के हृदय में उपजा सकता है। पर समाज का हित-साधन वही समर्थ कर पाता है जो विवेक से काम लेकर समाज के लिये आवश्यक भावों की सृष्टि करता है और समाज को उर्ध्वगामी बनाता है। इसलिये कलातत्त्वज्ञों ने ऐसे ही चित्रकार की कला को कला माना है, दूसरे प्रकार की कला को वे केवल अधम कला ही नहीं कहते, बल्कि उसे

कला के आसन पर ही नहीं बैठने देते। जिस प्रकार सदाचारी मनुष्य को ही हम मनुष्य मानते हैं और दुराचारी मनुष्य को, उसके मनुष्य रहते हुए भी, हम पशु मानते हैं, उसी तरह समाज को ऊपर चढ़ाने वाली कला ही सच्ची और एकमात्र कला है, समाज को अधःपतन का रास्ता दिखाने वाली कला को कला न कहना ही सार्थक है।

कला का संबंध भाव से है, सुन्दरता से नहीं। दूसरे शब्दों में यों कहें कि कला का संबंध रूप सुन्दरता से नहीं, भाव सुन्दरता से है। रूप सुन्दरता के पुजारी प्रकृति की प्रतिलिपि को ही कला मानते हैं अर्थात् सृष्टि में जो वस्तु उन्हें जैसी दिखाई देती है उसकी ज्यों की त्यों नकल कर देने, उसका हूबहू चित्र खड़ा कर देने की कुशलता को ही कला समझते हैं। इसलिये वे केवल प्राकृतिक दृश्यों के ही चित्र नहीं खींचते, प्राकृत संसार में मिलने वाली मनुष्य की नानाविध अवस्थाओं के ही चित्र बिना तारतम्य के नहीं खींचते, बल्कि नग्न और अर्धनग्न स्त्री-पुरुषों के चित्र चित्रित करना भी अनुचित नहीं मानते। किसी भी माता या बहन ने पूछा है कि क्या हजरत, जब चाहे जैसा और जिस अवस्था में मेरे दर्शन करने की गुस्ताखी आप क्या कर रहे हैं? मेरी राय में अब वह समय आगया है कि समाज इस प्रवृत्ति पर अंकुश रखे। चित्रकला के लिये दैनिक जीवन के ही ऐसे अनेक दूसरे प्रसंग मिल सकते हैं जिनके द्वारा वे अपनी कला का सदुपयोग कर सकते हैं।

अपनी नई ही सृष्टि रचनी पड़ती है। वह अपने हृदय के भाव-विशेष को मूर्ति का, व्यक्ति का, रूप देता है, जिसे देखते ही यह मालूम होता है कि वह कोई प्राकृत व्यक्ति नहीं; साक्षात् करुणा या भक्ति की ही मूर्ति है। वह उस भाव दर्शन के अनुरूप आदर्श अवयवों को अपनी प्रतिभा के साम्राज्य से खोज-खाजकर लाता है और एक आदर्श भाव-सृष्टि खड़ी कर देता है। इसलिये ऐसे चित्रकार आदर्श-दर्शी कला के अनुगामी माने जाते हैं। आदर्श-दर्शी चित्रकार भावो को व्यक्ति का रूप देता है; यथार्थ-दर्शी चित्रकार प्राकृत ससार के व्यक्तियो का चित्र खींचकर उसमे भाव आरोपण करने का प्रयत्न करता है। आदर्श-दर्शी चित्रकार का ध्यान हमेशा आदर्शदर्शन की ओर रहता है। यथार्थ-दर्शी कलाधर दुनिया की अच्छी बुरी, भद्र-अभद्र, सब चीजे आपके सामने लाकर रख देता है। आदर्श-दर्शी कलाकार खुद विवेकपूर्वक चुनाव करके अच्छी चीज आपके सामने पेश करता है। यथार्थदर्शी कलाकार स्वय विवेक का उपयोग करने के झगडे मे नहीं पड़ता, चुनाव और पसंदगी का काम समाज पर छोड़ देता है। समाज का जी चाहे, ऊपर चढे चाहे उतरे, वह तो अपने मन को जो चीज अच्छी लगी, आपके सामने पेश करके अलग होगया।

कला की उत्पत्ति जीवन के मृदुल अंश से है। उसका जन्म रस मे और परिणति आनंद मे है। जब जीवन मे सजीवता और स्निग्धता होती है और इतनी होती है कि वह फूटकर बाहर निकलना चाहती है तब कला का उदय होता है। एक की सजीवता और स्निग्धता जिस प्रभाव-शालिनी विधि या वाहन के द्वारा दूसरे में जाग्रत होती है उसे कला कहते हैं। इस तरह कला एक मध्यम हुई दो हृदयों को एक रस बनाने का। दो हृदयों का, दो जीवनो का, यह मधुर-मिलन किसी एक उद्देश्य से होता है। कला उसी का साधन है। किसी के मनमे एक अनूठा भाव जगा, उससे न रहा गया। उसने कूँची उठाई और एक कागज पर

लकीरें खींचकर उसे अभिव्यक्त कर दिया । एक सजीव छवि बन गई। यह चित्र-कला होगई । यदि उस भावावेश में वह गाने या नाचने लगता तो वह संगीत-कला और नृत्य-कला हो गई होती । यदि अभिनय करने लगता तो उसे नाट्यकला कह देते । काव्य में जिसे चमत्कार कहते हैं वही कला है । काव्य में ध्वनि भी कला है । काव्य स्वयं भी एक कला है, क्योंकि वह भी हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की अभिव्यक्ति ही है । रस उसमें सजीवता और आनन्द लादेता है । भाव जितना ही निर्दोष होगा, उच्च होगा, आनन्द और तन्मयता उतनी ही सात्विक होगी । हृदय उतना ही ऊँचा उठेगा और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव करेगा । हमारे भिन्न-भिन्न भाव हमारे मानसिक व्यापार हमारे सारे पिण्ड के प्रतिबिम्ब हैं । हमारे पिण्ड में जैसे संस्कार सग्रहित हुए होंगे वैसी ही भावनायें हमारी होंगी । जैसी हमारी भावनायें होंगी वैसी ही हम दूसरों में प्रेरित और जागृत करेंगे अर्थात् जैसे हम होंगे वैसे ही हम दूसरों को बनाने में सफल होंगे । इसलिये कलाकार जैसा होगा वैसी ही उसकी कलाकृति होगी वैसा ही उसका परिणाम दूसरे पर होगा । कलाकार ने अपने अन्तःकरण के जिन तारों को छेड़ा है वही अपनी स्वर-लहरी द्वारा तत्सदृश तारों को दर्शक के अंतःकरण में झंकृत करेंगे । विशुद्ध कलाकृति के लिये कलाकार का अन्तःकरण निर्दोष होना ही चाहिये । अन्तःकरण की मलिनता को धोने के लिये, मलिन वासनाओं को मिटाने के लिये सत्य की आराधना जरूरी है । भौतिक पदार्थों की आराधना उसे [illegible] और वासनाओं में, रागद्वेष से ऊपर न उठने देगी ।

मिलने वाला आनंद या सुख बिल्कुल क्षणिक, भ्रमपूर्ण और परिणाम में पश्चात्तापात्मक मालूम होने लगेगा । इस तरह कलाकार जितना ही सत्य-पूत होगा, उतनी ही उसकी कृति पवित्र और उज्ज्वल होगी । कला कलाकार की सृष्टि है । वह अपने जीवन के सारे सत्त्व को कलाकृति के रूप में जगत की भेंट करता है । उसकी कृति में जितनी ही सत्य की झलक होगी उतनी ही उसकी कला सृष्टि दिव्य और अमर होगी—उतनी ही वह जगत को स्फूर्ति-जीवन, चैतन्य, आनंद, सुख देगी ।

संसार का परम सत्य यह है कि विश्व के अणु रेणु में एक ही चैतन्य, एक ही प्रकाश, एक ही तेज, एक ही सत्ता निखरी और बिखरी हुई है । किसी भी वस्तु का अस्तित्व उसके बिना संभव नहीं है । हमने इस सत्य को जाना तो, किंतु इसका अनुभव कैसे हो ? हमारे जीवन में इसकी प्रतीति हमें कैसे हो ? हम अपने अंदर उस चैतन्य को प्रत्यक्ष कैसे देखें ? हम और वह दोनों जो आज पृथक् हैं, एक-दूसरे में मिल कैसे जायँ ? इसका उपाय यह है कि हमारे हृदय का प्रत्येक भाव, हमारे मस्तिष्क का प्रत्येक विचार, हमारे दिल की हर एक धड़कन, हमारे फेफड़े की हर एक सांस, हमारा एक-एक रोम इस स्फूर्ति से भर जाय कि सारे ब्रह्माण्ड में मैं फैला हुआ हूँ । सारी सृष्टि मेरे अंदर है । जगत का सुख-दुःख मेरा सुख-दुःख है । जगत में कहीं कष्ट देखूं तो ऐसा अनुभव हो कि यह कष्ट मुझे हो रहा है । संसार में कहीं आनंद देखूं, किसी को सुखी देखूं, तो स्वयं कष्ट में रहते हुए भी उस आनंद में नाचने लगूं । मेरा शत्रु या हिंस्र पशु सामने आजाय तो मुझे उसमें अपनी ही आत्मा की ज्योति दिखाई दे । जब कलाकार इस स्थिति को पहुँच जाता है—अपने आपमें इतना तल्लीन हो जाता है—या यों कहें कि अपने आपको भूल जाता है, सत्य की स्फुरणा ही अवशिष्ट रह जाती है, तब वह जो सृष्टि-रचना करता है, उसे कला कहते हैं । वह सत्य की झलक होती है । शांति, करुणा, प्रेम, उदारता, वीरता, शोक, उत्साह, साहस, चिंता किसी भी भाव की अभिव्यक्ति हो होगी सत्य की प्रेरणा का फल । वह

भाव मूल में सत्य से आरम्भ हुआ है; फिर शांति, वीरता, चिंता या किसी भी भाव से उसका विकास हुआ है; इस विकास की अभिव्यक्ति कला है। इसका परिणाम दर्शक के मनमें उसी भाव की जागृति होगा। यह जागृति उसे उस मूल सत्य की ओर जाने की प्रेरणा करेगी जहाँ से कलाकार के मनमें यह भाव स्फुरित हुआ है। इस प्रकार कला आदि में सत्यमूलक और अंत में सत्याभिमुख है; मध्य में वह भाव-विशेष का रूप ग्रहण कर लेती है। या यों कहें कि एक सत्यांश से दूसरे सत्यांश को जगाने वाले भाव-विशेष की अभिव्यक्ति का नाम कला है। इस तरह कला एक कृति है, साधन है, अभिव्यक्ति है, साध्य नहीं है। उसका परिणाम है भावोन्मनता और साध्य है सत्य का साक्षात्कार-सत्य का दर्शन।

व्यावहारिक भाषा में कला का अर्थ है—कुशलता। कला का अर्थ विद्या, हुनर भी है। इस अर्थ में कला एक मानसिक गुण हुई। और यह गुण एक व्यावहारिक मनुष्य के अंदर परम आवश्यक है।' पर कला से अभिप्राय यहाँ उस ज्ञान से है जो हमारे हृदय को जगा देती है, बार-बार उसे गति देती रहती है; बस इसके आगे उसका काम खतम हो जाता है। कलाकार आपका हाथ पकड़कर—आपका साथी या नेता बन कर [illegible] नहीं [illegible], वह तो एक ऐसा दृश्य दिखा देता है। जिससे आपके अन्तःकरण में एक हलकी मीठी गुदगुदी उत्पन्न होती है और आपकी आत्मा जाग्रत होने लगती है। मृदुलता कला का जीवन है। संवेदना उसकी जान है। किसी कल्पना या दृश्य से कलाकार के

है बल्कि भाव-दर्शन [illegible] । [illegible] में भाव का प्रवेश नहीं करना, [illegible] हृदया में उद्भासित करता है। [illegible] में देखता है उनकी प्रतिकृति उसका [illegible] रचना उसका कार्य है। उसे एक दूसरा विधाता [illegible] । [illegible] विधाता की रची सृष्टि की नकल नहीं करता, [illegible] है, उससे अधिक परिष्कृत, सुन्दर, कोमल, मनोहर और [illegible] चाहता है। वह एक आदर्श को मानवी हाथ-पाँव आदि [illegible] हमारे सामने रखता है। इस अंग-रचना में वह अपने को [illegible] ता है। वह यदि यह समझता है कि अंगुलियाँ लम्बी बनाने [illegible] सुन्दरता बढ़ेगी तो फिर इस बात का विचार नहीं करता कि [illegible] इतनी लम्बी अंगुलियाँ मनुष्य की नहीं बनाई हैं, मैं कैसे बनाने का साहस करूँ। इस अर्थ में कलाकार मौलिक, साहसी और स्वतन्त्र होता है।

कला को उदर-पूर्ति का साधन हरगिज न बनाना चाहिए। फिर, जब तक मनुष्य के साथ लगा हुआ है तब तक उसकी पूर्ति अनिवार्य है, परंतु उसके लिये जीवन के प्रधान और महान उद्देश्य को बिगाड़ा नहीं जा सकता। जो महान् और सच्चे उद्देश्य के लिये जीते हैं उन्हें न तो पेट की चिंता होती है और न उन्हें वास्तव में भूखा मरना ही पड़ता है, यदि मरना भी पड़े तो उसमें भी वे अधिक आनंदित रहते हैं और चमकते हैं। उदर-पूर्ति का भाव प्रधान हुआ नहीं और कला भ्रष्ट हुई नहीं, क्योंकि कला फिर कलाकार की आत्मा की ज्योति नहीं रह जाती, अन्नदाता या धन दाता की रुचि की दासी बन गई। कहाँ आत्मा की स्वतन्त्र ज्योति और कहाँ दूसरे की रुचि की गुलामी ? कितना स्पष्ट पतन। पेट की चिन्ता, पुरस्कार की इच्छा उन्हीं कलाओं को हो सकती है जिन्होंने किसी उच्च या महान् उद्देश्य के अनुवर्ती होकर कला-जीवन नहीं आरंभ किया है। यह कला-मर्मज्ञ और कला-रसिक लोगों का कर्त्तव्य है

कि वे कलाकारों की जीविका का उचित प्रबंध कर दिया करें। जब तक समाज या कला-रसज्ञ अपने कर्त्तव्य के लिये जाग्रत नहीं है तब तक कलाकार के सामने दो ही मार्ग हैं—या तो अपनी कला का दाम लगाकर स्वयं धनोपार्जन करे, या कष्ट पाकर समाज को अपने कर्त्तव्य का भाव करावे। पहले प्रकार का कलाकार समाज को कुछ कला-कृतियाँ तो देगा। उनसे समाज का मनोरंजन विशेष रूप से होगा, परंतु समाज में जाग्रति कम होगी और उसे बोध उससे भी कम मिलेगा। इसके विपरीत जो कलाकार धनाभाव में कष्ट सहन करेगा, वह समाज में एक जाग्रति उत्पन्न करेगा, और उस कष्ट की भावनाओं से प्रेरित होकर जो कला-कृतियां निर्माण करेगा उनमें अद्भुत प्रभाव, बल और जीवन होगा; जिससे समाज को अमित लाभ होगा। आसानी से धनोपार्जन करके हम केवल अपने कुटुम्ब का भरण पोषण निश्चिन्तता के साथ कर सकते हैं, किंतु धनाभाव से कष्ट उठाकर हम सारे समाज की आत्मा को जगाने का पुण्य प्राप्त कर सकते हैं। जो वस्तु हमारे लिये आवश्यक है उसके न मिलने से शरीर या मन को जो क्लेश होता है उसे सहना, उसे कष्ट न समझना, बल्कि इससे भी आगे बढ़कर उसमें आनंद मानना, कष्ट सहन है। इसके द्वारा हम उन व्यक्तियों, संस्थाओं, श्रेणियों का ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनके लिये यह आवश्यक है कि वे उस वस्तु को हम तक पहुँचावें। जब उन तक इस बात की खबर पहुँचेगी तो वे तत्काल सोचने लगेंगे कि अमुक आदमी ऐसा क्यों कर रहा है? उसके बाद ही वे ये सोचेंगे कि इस विषय में हमारा क्या कर्त्तव्य है? इसके पश्चात् वे उसके साधन की पूर्ति करने की चेष्टा करेंगे। जबानी या लिखित माँग के द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है, किंतु, दोनों के प्रभाव और फल में अंतर है। जबानी और लिखित माँग उस वस्तु की अनिवार्यता उतने जोर से साथ नहीं जाहिर करती जितनी कि कष्ट सहन द्वारा की जाती है। इस कष्ट-सहन से अपने में संतोष और संयम का गुण बढ़ता है एवं दूसरे में कर्त्तव्य-जाग्रति का।

इतने विवेचन से पाठक यह अच्छी तरह समझ चुके होंगे कि कला वही है जिसकी प्रेरणा आत्मा की सत्यता, स्वतन्त्रता और पवित्रता से मिली हो और कलाकार वह है जिसने जीविका के बाजार में वेचने के लिये कला को न सिरजा हो।

विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा

"वास उसी में है विभुवर का, है बस सच्चा साधु वही,
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़कर उनकी बाँह गही।
आत्म स्थिति जानी उसने ही, पर-हित जिसने व्यथा सही,
पर हितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे यह धन्य मही।"

—मैथिलीशरण गुप्त

"जी से प्यारा जगत हित औ लोक-सेवा जिसे है,
प्यारी ! सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।"

—प्रिय-प्रवास

"सत्य, अहिंसा, प्रेम की तिरबेनी अनहायँ,
ते जन अग जग में सुरग पग-पग ही पै पायँ।"

—दुलारे-दोहावली

संसार के मनुष्य, पशु पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि सभी प्राणी स्वहित-साधन में तत्पर रहते हैं। अपने से प्रेम करना किसी से सीखना नहीं पड़ता। अपने लिये सब-के-सब उदार ही हैं। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य स्वभाव से ही अपने ऊपर प्रेम करता है, किंतु ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है, जो अपने अतिरिक्त और किसी व्यक्ति को प्यार न करते हों। मनुष्य अपने हित-चिंतन के साथ दूसरे का भी हित-चिंतन कर ही लेता है।

ऐसे-ऐसे नर-पिशाच, जिनका हृदय कभी किसी के लिये दयार्द्र और प्रेम-प्लावित नहीं हुआ, शुष्क वैज्ञानिक अथवा अर्थशास्त्र विशारद पंडितों के विभीषिका-पूर्ण मस्तिष्क में घुसते हों, तो हों, किंतु इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् में तो वस्तुतः कहीं ऐसे पामर-पतित नहीं दिखाई पड़ते।

भयंकर बाघ भी बाघनी पर आसक्त हो उसके लिये अपनी भारी भयंकरता भूल जाता है। काल-रूप सर्प अपनी प्यारी नागिन के लिये दुर्दमनीय विषैली शक्ति भूलकर कोमल कलेवर धारण कर लेता है। ऐसा कोई नहीं, जो किसी-न-किसी काल में अपना व्यक्तित्व न छोड़ता हो। जहा व्यक्तित्व गया, वहीं प्रेम की विजयध्वनि हुई। सभी विश्वव्यापी पवित्र प्रेम के अधीन हैं।

प्रेमदेव के वशीभूत होने पर फिर व्यक्तित्व कहाँ? प्रेम के प्रज्वलित, पुनीत पावक में पार्थक्य का नाश हो जाता है। जहा प्रेम है, वहीं व्यक्तित्व का नाश है। प्रेम में ही आत्मा के केन्द्र का विस्तार दिखाई पड़ता है।

जहा एक बार व्यक्तित्व का त्याग हुआ बस फिर कोई सीमा बाधना वृथा है। जब अपने व्यक्तित्व का नाश हो गया, तब सारे भेद भी उसी के साथ छिन्न भिन्न हो गए।

प्रेम का अर्थ ही है—व्यक्तित्व का परित्याग। फिर जहा यह ज्ञान हो कि सब स्थानों में एक ही पवित्रात्मा का प्रकाश अथवा विकास है, वहाँ प्रेम—रुके हुए जल स्रोत की भाँति—सारे बंधनों को तोड़-फोडकर चारों ओर फैलने लगता है। प्रेम का शुद्ध स्रोत अथाह है। प्रेम का स्वाभाविक वृद्धि विश्व-प्रेम द्वारा संभव है। भौतिक पदार्थों को भाँति प्रेम की परिमिति नहीं। व्यापकता के साथ इसकी तीव्रता घटती नहीं, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

विश्व-प्रेम उन्हीं के लिये कठिन एवं दुस्साध्य है, जो अपनी आत्मा को पंचमहाभूतों का ही गुण मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्तित्व से बाहर नहीं जा सकता। किंतु प्रकृतिवादी भी व्यक्तित्व से बाहर जाने का यत्न किया करते हैं। वे भी परहित-साधन के पक्षपाती हैं। प्रकृतिवादियों की आत्मा हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जब विस्तार ही आत्मा का गुण है, तब फिर आत्मा के विस्तार को कौन रोक सकता है? जादू वही है, जो सिर पर चढ़कर बोले।

आत्मा का विस्तार जितना बढ़ाओ, उतना ही बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे हमारी औदार्यमयी सहृदयता की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-ही-वैसे हमारी आत्मा का वृत्त भी बढ़ता जाता है। साधारण मनुष्य के लिये उसका घर ही उसकी आत्मा है। जाति-सुधारक के लिये जाति और राष्ट्र निर्माता के लिये राष्ट्र ही उसकी आत्मा है। देशानुरागी की आत्मा निज परिवार, कुटुम्ब और जाति में ही संकुचित नहीं रहती। उसकी स्वार्थ सिद्धि तो देश के परम कल्याण में है। देश का ऐश्वर्य उसका ऐश्वर्य है। जिस बात से देश का मुख कलंकित हो, उसी बात से उसे भी दारुण दुःख होता है। जिससे देश का मुख उज्ज्वल हो, लाञ्छन छूट जाय, मस्तक उन्नत हो, वही उस देश भक्त के परमानंद का प्रधान कारण होता है। मनुष्य-मात्र की हित-कामना करने वाले का आत्म-विस्तार देश-हितैषी की आत्मा के विस्तार से भी वृहत् है। फिर प्राणि-मात्र से अविरल प्रेम करने वाले महापुरुष की आत्मा का तो कहना ही क्या। वह तो समष्टि की आत्मा से एक हो जाती है। केंद्रभूत आत्मा के वृत्त का विस्तार जितना ही बढ़ता चला जाय, उतनी ही अधिक

विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा द्वारा ही व्यक्तित्व का जटिल बंधन छूट सकता है। सेवा द्वारा ही अपनी आत्मा का पूर्ण विस्तार जाना जा सकता है। विश्व-प्रेम से ही समष्टि-व्यष्टि का एकीकरण हो सकता है। विश्व-सेवा द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। प्रेम और सेवा द्वारा व्यक्ति की परिमितता जाती रहती है। सकोच का अकुंचित विस्तार हो जाता है—सकीर्णता के स्थान मे प्रशस्तता का राज्य हो जाता है। सत्सेवा के सहारे हम सच्चे विजयी बन सकते हैं—सारे ससार को अपना बना सकते हैं—कलियुग को कृतयुग मे पलट सकते हैं।

कर्मवीर महाराणा प्रताप

(१)

महाराणा प्रताप के यहां अच्छा आदर सत्कार पाने पर भी विभीषण मानसिंह चित्तौड के राजकुमार से बोले, "राणाजी के सिर मे जो दर्द है उसकी दवा लेकर शीघ्र ही लौटूँगा।" विभीषण मानसिंह शीघ्र ही लौटा। हल्दीघाटी के मैदान ने इस सुयोग्य चिकित्सक का आवाहन किया। प्रताप भी अपनी कठिनाइयो का पहला पाठ पढने के लिये रण-क्षेत्र की ओर आगे बढा। बाईस हजार साथी—लेकिन अंत मे आठ हजार ही बचे, शेष सब प्रताप को गुरु दक्षिणा मे देने पडे। घमासान पड़ा। प्राणो का बाजार पूरा गरम। भीषणता और उसका सच्चा महत्त्व उसी समय समझ सकते हो, जब एक किसान की कुटी की शांति और सौम्यता से उस दृश्य की तुलना करो। मनुष्य की पाशविक शक्ति का पूरा नमूना, लेकिन साथ ही संसार के उज्ज्वल गुणो का पूरा खजाना, मर रहे और मारे जा रहे हैं। एक पर एक टूट रहे हैं, और एक पर एक गिर रहे हैं। ढाल लेकिन अंत मे कोमल शरीर ही ढाल का काम देते हैं। तलवार—मनुष्य के रक्त की तरलता देखकर उसका पानी और भी तरल हो जाता है। बर्छियाँ जगमा भी अन्याय नहीं करतीं। उस यन-

को. नहीं, संसार को, तुम्हारी जान तुम्हारे [illegible] प्यारी है। नहीं मानोगे? अच्छा राजपूत बनो! आगे बढ़ो [illegible] हुआ! अधिपति मुफ्त में जा रहा है। बनो आगे [illegible] बनाओगे! [illegible] के झाला। तुम हाँ, बढ़ो! बस ठीक। झाला के सिर पर मुकुट है। मुगल तलवारें झाला पर पड़ने लगीं। प्रताप को उन्होंने छोड़ दिया। एक जान के बदले दूसरी जान। झाला ने अपनी जान देकर प्रताप की कीमती जान बचाली। रक्त-नदी बह उठी। लेकिन, चित्तौड़ की स्वतन्त्रता देवी की प्यास न बुझी। अभी तो परीक्षा आरंभ ही हुई है प्रताप! एक किले के बाद दूसरा किला दो। अब किले नहीं रहे, तो जाओ पहाड़ और जंगलों की खाक छानो। ऐ! रसद बंद हो गई, तो क्या हर्ज है? पेड़ कहीं नहीं गये, जंगल का सामा और कोदों का कोई हाथ न पकड़ लेगा। आज यहाँ तो कल वहाँ, घास की रोटियाँ, लेकिन खाते ही मुगल आ पहुँचे। लड़ते भिड़ते निकल चलो। सोने के लिये बिछौने नहीं, कोई हर्ज नहीं। बड़ों के लिये चट्टानें और बच्चों के लिए बाँस के पालने ही सही। अंधेरी रातें, धधकती दुपहरियाँ, जाड़े का कड़ाका, वर्षा की रिमझिमाहट, आत्मा की आग और परमात्मा की उदासीनता—साथियों का मरते जाना और सैनिकों का कम होते जाना, कठिन तपस्या और कठोर तप! एक दिन नहीं और दो दिन भी नहीं, एक साथ पच्चीस वर्ष तक!

(२)

यह कैसी चीत्कार? चित्तौड़ की राजकुमारी के हाथ से एक वन-बिलाव घास-पात की रोटी छीन ले गया। राजकुमारी चीख उठी। बिलाव के डर से नहीं, भूख के डर से, राजकुमारी—और रोटी के लिये तरस! लेकिन प्रताप—यह क्या? तुम्हारी आत्मा काँप क्या उठी? लड़की की वेदना देखकर और परिवार के कष्टों से? शांत हो और जरा विचारो, देखो, वह तुम्हारे शत्रु अपने खीमों में घी के दीपक जला रहे हैं। क्यों तुम्हारी हिम्मत टूटती हुई देखकर। इन दीपकों के घी और बत्ती के साथ

सच बताओ, तुम्हारा हृदय जला कि नहीं? हाँ जला, अब इस जले पर नमक छिड़कने की जरूरत नहीं।

(३)

हो चुका! बस, चित्तौड़ की भूमि! तुझे नमस्कार है। तुझे छोड़ता हूँ, लेकिन स्वतन्त्रता का पल्ला नहीं छोड़ता। जो था, सो सब इस देवी के अर्पण हो चुका। शरीर में जो हड्डियाँ बाकी हैं, वे भी अर्पण हो चुकीं। जननी जन्मभूमि, अंतिम दर्शन है। लो, आज्ञा दो।

प्रताप, आगे बढ़ो! तुम्हारी सच्ची माता तुम्हें बुला रही है। हरिश्चन्द्र अपनी दासता के कर्त्तव्य में जब हद से ज्यादा आगे बढ़ गये थे, तब कहते हैं कि निराकार प्रभु ने आकर उनका हाथ पकड़ा था। मेवाड़ की भूमि भी तेरा पैर पकड़ रही है। देख, उसका एक सपूत आगे बढ़ता है। भामाशाह तेरे पैर थामता है। देश को मत छोड़, वह तुझे छोड़ने के लिये तैयार नहीं। भाग्य भी अभी तक तुझे छोड़े था, लेकिन अब वह प्रार्थना करता है कि तू उसे मत छोड़। ले धन। २५००० आदमी इस धन से १२ वर्ष तक खा सकेंगे। तेरी तपस्या पूरी होगई और देख स्वतन्त्रता देवी स्वयं तेरे पास आ रही है। तेरे साहस और तेरी दृढ़ता तथा वीरता और उदारता के सामने उसका आसन डोल उठा है। देख, शान्ति से वह मुस्करा रही है। उसके हाथों में माला है और देख वह तेरे गले में गिरती है।

(४)

उनकी तारीफ़ में पद्य-रचना करना पुण्य कार्य समझता था। मनुष्य भी उसे प्यार करते थे और घोड़े चेतक ने उसके ऊपर अपनी जान भी वार कर दी। स्वतन्त्रता देवी को वह प्यारा था और वह उसे प्यारी थी। चित्तौड़ का वह दुलारा था और चित्तौड़ की भूमि उसे दुलारी थी। उदार इतना कि बेगमें पकड़ी गईं और सम्मान सहित वापिस भेज दी गईं। सेनापति फरीद खाँ ने कसम खाई कि प्रताप के खून से मेरी तलवार नहायेगी प्रताप ने सेनापति को पकड़कर छोड़ दिया।

(५)

अन्तिम काल—जान नहीं निकलती। लेकिन राणाजी, क्यों? मुझे विश्वास नहीं कि मेरे बाद चित्तौड़ की स्वाधीनता कायम रह सके। क्यों? राजकुमार दृढ़ न सही, मेवाड़ के सोलह सरदार, राणाजी, कसम खाते हैं कि हम अपने खून से स्वतंत्रता के उस बीज को जो तू ने बोया, सींचेंगे। शान्ति हुई, और उसकी आत्मा शरीर से बाहर होकर स्वतन्त्रता देवी की पवित्र गोद में जा विराजी। प्रताप! हमारे देश का प्रताप! तू नहीं है. केवल तेरा यश और कीर्त्ति है। जब तक यह देश, और जबतक संसार में दृढ़ता, उदारता, स्वतंत्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नहीं, सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। संसार के किसी भी देश में तू होता, तो तेरी पूजा होती, और तेरे नाम पर लोग अपने को न्योछावर करते। अमेरिका में होता, तो वाशिंगटन और इब्राहिम लिंकन से तेरी किसी तरह कम पूजा न होती। इङ्गलैंड

मे होना तो वेलिंगटन और नेलसन को तेरे सामने सिर झुकाना पड़ता। स्काटलैंड मे वालेस और राबर्ट ब्रूस तेरे साथी होते। फ्रांस मे जॉन ऑफ आर्क तेरी टक्कर की गिनी जाती और इटली तुझे मेजिनी के मुकाबले मे रखती। लेकिन हम भारतीय निर्बल आत्माओं के पास है ही क्या, जिससे हम तेरी पूजा करे और तेरे नाम की पवित्रता को अनुभव करे। एक भारतीय युवक आँखो मे आँसू भरे हुए नेत्रा सहित अपने हृदय को खोता हुआ, लज्जा के साथ तेरी कीर्ति गा—नहीं रो—नहीं, कह भर लेने के सिवा और कर ही क्या सकता है?

———

आधुनिक नारी

(१)

मध्य और नवीन युग के सधिस्थल मे नारी ने जब पहले-पहले अपनी स्थिति पर असंतोष प्रकट किया, उस समय उसकी अवस्था उस पीड़ित के समान थी, जिसकी प्रकट वेदना के अप्रकट कारण का निदान न हो सका हो। उसे असह्य व्यथा थी, परतु इस विषय मे 'कहाँ' और 'क्या' का कोई उत्तर नही मिलता था। अधिक गूढ कारणों की छान-बीन करने का उसे अवकाश भी न था, अतः उसने पुरुष से अपनी तुलना करके जो अंतर पाया उसी को अपनी दयनीय स्थिति का स्पष्ट कारण समझ लिया। इस क्रिया से उसे अपनी व्याधि के कुछ कारण भी मिले सही, परंतु यह धारणा नितात निर्मूल नही कि इस खोज में कुछ भूले भी संभव हो सकीं। दो वस्तुओं का अंतर सदैव ही उनकी श्रेष्ठता और हीनता का द्योतक नही होता, यह मनुष्य प्रायः भूल जाता है। नारी ने भी यही चिरपरिचित भ्राति अपनाई। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, शारीरिक विकास के विचार से और सामाजिक जीवन की व्यवस्था से स्त्री और पुरुष में विशेष अतर रहा है और भविष्य में भी रहेगा, परंतु यह मानसिक या शारीरिक भेद न किसी को श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है और न किसी की हीनता का विज्ञापन करता है। स्त्री ने स्पष्ट कारणों के अभाव में इस अंतर को विशेष त्रुटि समझा। केवल यही सत्य नही है, वरन् यह भी मानना होगा कि उसने सामाजिक अंतर का कारण ढूँढने के लिए स्त्रीत्व को क्षत-विक्षत कर डाला।

उसने निश्चय किया कि वह उस भावुकता को आमूल नष्ट कर डालेगी, जिसका आश्रय लेकर पुरुष उसे रमणी समझता है, उस गृह-बधन को छिन्न-भिन्न कर देगी जिसकी सीमा ने उसे पुरुष की भार्या बना दिया है और उस कोमलता का नाम भी न रहने देगी जिसके कारण

उसे बाह्य जगत् के कठोर संघर्ष से बचने के लिये पुरुष के निकट रक्षणीया होना पड़ा है। स्त्री ने सामूहिक रूप जितना पुरुष जाति को दिया उतना उससे पाया नहीं, यह निर्विवाद सिद्ध है, परंतु इस आदान-प्रदान की विषमता के मूल में स्त्री और पुरुष की प्रकृति भी कार्य करती है, यह न भूलना चाहिए। स्त्री अत्यधिक त्याग इसलिए नहीं करती, अत्यधिक सहनशील इसलिए नहीं होती कि पुरुष उसे हीन समझकर उसके लिए बाध्य करता है। यदि हम ध्यान से देखेंगे तो ज्ञात होगा कि उसे यह गुण मातृत्व की पूर्ति के लिए प्रकृति से मिले हैं। यह अच्छे हैं या बुरे इसकी विवेचना से विशेष अर्थ न निकलेगा, जानना इतना ही है कि यह प्राकृतिक है या नहीं। इस विषय में स्त्री स्वयं भी अंधकार में नहीं है। वह अपनी प्रकृति जनित कोमलता को त्रुटि चाहे मानती हो, परन्तु उसे स्वाभाविक अवश्य समझती है, अन्यथा उसके इतने प्रयास का कोई अर्थ न होता। परिस्थितिजन्य दोष जितने शीघ्र मिट सकते हैं

आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो चुकी है, अतः आगे सामाजिक बन्धनों पर उसका अपेक्षाकृत अधिक प्रभुत्व कहा जा सकता है। उसे पुरुष के मनोविनोद की वस्तु बने रहने की आवश्यकता नहीं है, अतः वह चाहे तो परम्परागत रमणीत्व को तिलाञ्जलि देकर सुखी हो सकती है। परन्तु उसकी स्थिति क्या प्रमाणित कर सकेगी कि वह आदिम नारी दुर्बलता से रहित है? सम्भवतः नहीं। शृंगार के इतने संख्यातीत उपकरण रूप को स्थिर रखने के इतने कृत्रिम साधन, आकर्षण करने के उपहास-योग्य प्रयास आदि क्या इस विषय मे कोई संदेह का स्थान रहने देते हैं? नारी का रमणीत्व नष्ट नहीं हो सका, चाहे उसे गरिमा देने वाले गुणों का नाश हो गया हो। यदि पुरुष को उन्मत्त कर देने वाले रूप की इच्छा नहीं मिटी। उसे बाँध रखनेवाले आकर्षण की खोज नहीं की गई तो फिर नारित्व की ही उपेक्षा क्यों की गई, यह कहना कठिन है। यदि भावुकता ही लज्जा का कारण थी तो उसे समूल नष्ट कर देना था, परन्तु आधुनिक नारी ऐसा करने मे भी असमर्थ रही। जिस कार्य को वह बहुत सफलता पूर्वक कर सकी है वह प्रकृति से विकृति की ओर जाना मात्र था। वह अपनी प्रकृति को वस्त्रों के समान जीवन का बाह्य आच्छादन मात्र बनाना चाहती है, जिसे इच्छा और आवश्यकता के अनुसार जब चाहे पहना या उतारा जा सके। बाहर के संघर्षमय जीवन मे जिस पुरुष को नीचा दिखाने के लिए वह सभी क्षेत्रों में कठिन से कठिन परिश्रम करेगी, जीवन-यापन के लिए आवश्यक प्रत्येक वस्तु को अपने स्वेद कणों से तौल कर स्वीकार करेगी, उसी पुरुष मे नारी के प्रति जिज्ञासा जाग्रत रखने के लिए वह अपने सौंदर्य और अंग सौष्ठव के रक्षार्थ असाध्य से असाध्य कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आज उसे अपने रूप, अपने शरीर और अपने आकर्षण का जितना ध्यान है उसे देखते हुए कोई भी विचारशील, स्त्री को स्वतन्त्र न कह सकेगा।

स्त्री के प्रति पुरुष की एक रहस्यमयी जिज्ञासा सृष्टि के समान ही

चिरंतन है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह जिज्ञासा इनके सम्बन्ध का 'अथ' है 'इति' नहीं। प्राचीन नारी ने इस 'अथ' से आरम्भ करके पुरुष से अपने सम्बन्ध को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया जहाँ उन दोनों के स्वार्थ एक और व्यक्तित्व सापेक्ष हो गये। यही नारी की विशेषता थी, जिसने उसे मनोविनोद के सुन्दर साधनों की श्रेणी से उठाकर गरिमामयी विधात्री के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आधुनिक नारी पुरुष के और अपने सम्बन्ध को रहस्य मयी जिज्ञासा से आरम्भ करके उसे वहीं स्थिर रखना चाहती है जो सम्भवतः उसे किसी स्थायी आदान प्रदान का अधिकार नहीं देता। संध्या के रंगीन बादल या इन्द्रधनुष के रंग हमें क्षणभर विस्मय विमुग्ध कर सकते हैं किन्तु उससे अधिक उनकी कोई सार्थकता हो सकती है, यह हम सोचना भी नहीं चाहते। आज की सुन्दर नारी भी पुरुष के निकट और कोई विशेष मूल्य नहीं रखती। उसे स्वयं भी इस कटु सत्य का अनुभव होता है, परन्तु वह उसे परिस्थिति का दोषमात्र समझती है। आज पुरुष के निकट स्त्री प्रसाधित शृंगारित खिलौना मात्र लेकर खड़ी है। यह वह मानना नहीं चाहेगी, परन्तु वास्तव में यही सत्य है। पहले की नारी जाति केवल रूप और धन का पाथेय लेकर संसार यात्रा के लिए नहीं निकली थी। उसने संसार को वह दिया जो पुरुष नहीं दे सकता था, अतः उसके अक्षय वरदान का वह अब तक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को संसार अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझने लगा, विकृति भी उत्पन्न हो गई परन्तु उसके प्रतिकार का जो उपाय हुए वे उस विकृति को दूसरी ओर ले जाने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके।

मनोयोग से अपने बाह्य आकर्षण को बढ़ाने और स्थायी रखने का प्रयत्न करने लगी। पश्चिम की स्त्री की स्थिति में जो विशेषता है उसके मूल में पुरुष के प्रति उनकी स्पर्धा के साथ ही उसे आकर्षित करने की प्रवृत्ति भी कार्य करती है। पुरुष भी उसकी प्रवृत्ति से अपरिचित नहीं रहा। इसी से उसके व्यवहार में मोह और अवज्ञा ही प्रधान हैं। स्त्री यदि नवीन खिलौने के समान आकर्षक है तो वह विस्मय-विमुग्ध हो उठेगा, यदि नहीं तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थितियां स्त्री के लिए अपमानजनक हैं। पश्चिमीय स्त्री की स्थिति का अध्ययन कर यदि हम अपने देश की आधुनिका से प्रभावित महिलाओं का अध्ययन करें तो दोनों ही ओर असंतोष और उसके निराकरण में विचित्र साम्य मिलेगा।

हमारे यहाँ की स्त्री शताब्दियों से अपने अधिकारों से वंचित रहती आरही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्तन करते-करते उसे जिस अधोगति तक पहुँचा दिया है वह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। इस स्थिति को पहुँचकर भी जो व्यक्ति असंतोष प्रकट नहीं करता उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अंत में कठिन जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्हीं को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढ़ियों और परंपरागत संस्कारों के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के समान न सुविधाएँ मिलीं और न सुयोग, परंतु उसने उन्हीं को अपना मार्ग-प्रदर्शक बनाना निश्चित किया।

शिक्षा के नितांत अभाव और परिस्थितियों की विषमता के कारण कम स्त्रियाँ इस प्रगति को अपना सकीं और जिन्होंने इन बाधाओं से ऊपर उठकर इसे अपनाया भी, उन्हें इसका बाह्य रूप ही अधिक आकर्षक

चिरतन है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, परन्तु यह जिज्ञासा उनके सम्बन्ध का 'अथ' है 'इति' नहीं। प्राचीन नारी ने इस 'अथ' से आरम्भ करके पुरुष से अपने सम्बन्ध को ऐसी स्थिति में पहुँचा दिया जहाँ उन दोनो के स्वार्थ एक और व्यक्तित्व सापेक्ष हो गये। यही नारी की विशेषता थी, जिसने उसे मनोविनोद के सुन्दर साधनों की श्रेणी में उठाकर गरिमामयी विधात्री के ऊँचे आसन पर प्रतिष्ठित कर दिया।

आधुनिक नारी पुरुष के और अपने सम्बन्ध को रहस्य मयी जिज्ञासा से आरम्भ करके उसे वहीं स्थिर रखना चाहती है जो सम्भवतः उसे किसी स्थायी आदान प्रदान का अधिकार नहीं देता। सध्या के रगीन बादल या इन्द्रधनुष के रग हमें क्षणभर विस्मय विमुग्ध कर सकते हैं किन्तु इससे अधिक उनकी कोई सार्थकता हो सकती है, यह हम सोचना भी नहीं चाहते। आज की सुन्दर नारी भी पुरुष के निकट और कोई विशेष महत्व नहीं रखती। उसे स्वय भी इस कटु सत्य का अनुभव होता है, परन्तु वह उसे परिस्थिति का दोषमात्र समझती है। आज पुरुष के निकट स्त्री प्रसाधित शृगारित स्त्रीत्व मात्र लेकर खड़ी है। यह वह मानना नहीं चाहेगी, परन्तु वास्तव में यही सत्य है। पहले की नारी जाति केवल रूप और वय का पाथेय लेकर ससार-यात्रा के लिए नहीं निकली थी। उसने ससार को वह दिया जो पुरुष नहीं दे सकता था, अतः उसके अक्षय वरदान का वह आजतक कृतज्ञ है। यह सत्य है कि उसके अयाचित वरदान को ससार अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझने लगा, विकृति भी उत्पन्न हो गई, परन्तु उसके प्रतिकार के जो उपाय हुए वे उस विकृति को दूसरी ओर फेरने के अतिरिक्त और कुछ न कर सके।

पश्चिम में स्त्रियो ने बहुत कुछ प्राप्त कर लिया, परतु सब कुछ पाकर भी उनके भीतर की चिरतन नारी नहीं बदल सकी। पुरुष उसके नारीत्व की उपेक्षा करे, यह उसे भी स्वीकार न हुआ, अतः वह अथक

मनोयोग से अपने बाह्य आकर्षण को बढ़ाने और स्थायी रखने का प्रयत्न करने लगी। पश्चिम की स्त्री की स्थिति में जो विशेषता है उसके मूल में पुरुष के प्रति उनकी स्पर्धा के साथ ही उसे आकर्षित करने की प्रवृत्ति भी कार्य करती है। पुरुष भी उसकी प्रवृत्ति से अपरिचित नहीं रहा। इसी से उसके व्यवहार में मोह और अवज्ञा ही प्रधान हैं। स्त्री यदि रंगीन खिलौने के समान आकर्षक है तो वह विस्मय-विमुग्ध हो उठेगा, यदि नहीं तो वह उसे उपेक्षा की वस्तुमात्र समझेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों ही स्थितियां स्त्री के लिए अपमानजनक हैं। पश्चिमीय स्त्री की स्थिति का अध्ययन कर यदि हम अपने देश की आधुनिकता से प्रभावित महिलाओं का अध्ययन करें तो दोनों ही ओर असंतोष और उसके निराकरण में विचित्र साम्य मिलेगा।

हमारे यहाँ की स्त्री शताब्दियों से अपने अधिकारों से वंचित चली आरही है। अनेक राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने उसकी अवस्था में परिवर्तन करते-करते उसे जिस अधोगति तक पहुँचा दिया है वह दयनीयता की सीमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जा सकती। इस स्थिति को पहुँचकर भी जो व्यक्ति असंतोष प्रकट नहीं करता उसे उस स्थिति के योग्य ही समझना चाहिए। कोमल तूल सी वस्तु भी बहुत दबाये जाने पर अंत में कठिन जान पड़ने लगती है। भारतीय स्त्री भी एक दिन विद्रोह कर ही उठी। उसने भी पुरुष के प्रभुत्व का कारण अपनी कोमल भावनाओं को समझा और उन्हीं को परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। अनेक सामाजिक रूढ़ियां और परंपरागत संस्कारों के कारण उसे पश्चिमीय स्त्री के समान न सुविधाएँ मिलीं और न सुयोग, परंतु उसने उन्हीं को अपना मार्ग-प्रदर्शक बनाना निश्चित किया।

शिक्षा के नितांत अभाव और परिस्थितियों की विषमता के कारण कम स्त्रियाँ इस प्रगति को अपना सकीं और जिन्होंने इन बाधाओं से ऊपर उठकर इसे अपनाया भी, उन्हें इसका बाह्य रूप ही अधिक आकर्षक

लगा। भारतीय स्त्री ने भी अपने आपको पुरुष की प्रतिद्वन्द्विता में पूर्ण देखने की कल्पना की, परन्तु केवल इसी रूप से उसकी निरतन नारी भावना सतुष्ट न हो सकी। उसकी भी प्रकृतिजन्य कोमलता अस्तिनास्ति के बीच मे डगमगाती रही। कभी उसने सपूर्ण शक्ति से उसे दबाकर अपनी ऐसी कठोरता प्रकट की जो उसके कुचले मर्मस्थल का विज्ञापन करती थी और कभी क्षणिक आवेश मे प्रयत्न प्राप्त निष्ठुरता का आवरण उतार कर अपने अहेतुक हल्केपन का परिचय दिया। पुरुष कभी उससे वैसे ही भयभीत हुआ जसे सज्ञान विक्षिप्त से होता है और कभी वैसे ही उस पर हँसा जैसे बडा व्यक्ति बालक के आयास पर हँसता है। कहना नहीं होगा कि पुरुष के ऐसे व्यवहार से स्त्री का और अधिक अनिष्ट हुआ क्योंकि उसे अपनी योग्यता का परिचय देने के साथ-साथ अपने सज्ञान और बडे होने का प्रमाण देने का प्रयास भी करना पडा। उसके सारे प्रयत्न और आयास अपनी अनावश्यकता के कारण ही कभी-कभी दयनीय से जान पड़ते हैं, परतु वह करे भी तो क्या करे। एक ओर परपरा गत संस्कार ने उसके हृदय मे यह भाव भर दिया है कि पुरुष विचार, वुद्धि और शक्ति में उससे श्रेष्ठ है और दूसरी ओर उसके भीतर की नारी प्रवृत्ति भी उसे स्थिर नही रहने देती। इन्हीं दोनो भावनाओं के बीच मे उसे अपनी ऐसी आश्चर्यजनक क्षमता का परिचय देना है जो उसे पुरुष के समकक्ष बैठा दे। अच्छा होता यदि स्त्री प्रतिद्वन्द्विता के क्षेत्र में बिना उतरे हुए ही अपनी उपयोगिता के बल पर स्वत्वों की माँग सामने रखती, परतु परिस्थितियाँ इसके अनुकूल नहीं थी। जो अप्राप्त है उसे पा लेना कठिन नहीं है परतु जो प्राप्त था उसे खोकर फिर पाना अत्याधिक कठिन है। एक मे पाने वाले की योग्यता सभावित रहती है और दूसरे मे अयोग्यता, इसी से एक का कार्य उतना श्रमसाध्य नही होता जितना दूसरे का। स्त्री के अधिकारो के विषय मे भी यही सत्य है।

इस समय हम जिन्हे आधुनिक काल की प्रतिनिधि के रूप मे देखते

हैं, वे महिलाएँ तीन श्रेणियों में रखी जा सकती हैं। त्रिवेणी की तीन धाराओं के समान वे एक सी होकर भी अपनी विशेषताओं से भिन्न हैं। कुछ ऐसी हैं, जिन्होंने अपने युगांतदीर्घ बंधना की अवज्ञा कर पिछले कुछ वर्षों में राजनीतिक आंदोलन को गतिशील बनाने के लिए पुरुषों की अभूतपूर्व सहायता दी, कुछ ऐसी शिक्षिताएँ हैं जिन्होंने अपनी अनुकूल परिस्थितियों में भी सामाजिक जीवन की त्रुटियों का कोई उचित समाधान न पाकर अपनी शिक्षा और जागृति को आजीविका और सार्वजनिक उपयोग का साधन बनाया और कुछ ऐसी सम्पन्न महिलाएँ हैं, जिन्होंने थोड़ी सी शिक्षा के साथ बहुत सी पाश्चात्य आधुनिकता का संयोग कर अपने गृह जीवन को एक नवीन साँचे में ढाला है।

यह कहना अनुचित होगा कि प्रगतिशील नारी-समाज के ये विभाग किसी वास्तविक अंतर के आधार पर स्थित हैं, क्योंकि ऐसे विभाग ऐसी विशेषताओं पर आश्रित होते हैं जो जीवन के गहन-तल में एक होजाती हैं।

यह समझना कि राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाली स्त्रियाँ अन्य क्षेत्रों में कार्य नहीं करतीं या शिक्षा आदि क्षेत्रों में कार्य करने वाली पाश्चात्य आधुनिकता से दूर रह सकी हैं, भ्रांतिपूर्ण धारणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वास्तव में ये श्रेणियाँ उनके बाह्य जीवन के सादृश्य के भीतर कार्य करने वाली वृत्तियों को समझाने के लिए ही हैं। आधुनिकता की एकरूपता को भारतीय जाग्रत महिलाओं ने अनेक रूपों में ग्रहण किया है, जो स्वाभाविक ही था। ऐसी कोई नवीनता नहीं है, जो प्रत्येक व्यक्ति को भिन्न रूप में नवीन नहीं दिखाई देती, क्योंकि देखने वाले का भिन्न दृष्टिकोण ही उसका आधार होता है। प्रत्येक स्त्री ने अपनी असुविधा, अपने सुख-दुःख और अपने व्यक्तिगत जीवन के भीतर से इस नवीनता पर दृष्टिपात किया, अतः प्रत्येक को उसमें अपनी विशेष त्रुटियों के समाधान के चिन्ह दिखाई पड़े।

इन सबके आचरणों को भिन्न भिन्न रूप से प्रभावित करने वाले दृष्टिकोणों का पृथक-पृथक अध्ययन करने के उपरान्त ही हम आधुनिकता के वातावरण मे विकसित नारी की कठिनाइयाँ समझ सकेंगे। उनकी स्थिति प्राचीन रूढ़ियों के बन्धन मे बन्दिनी स्त्रियों की स्थिति से भिन्न जान पड़ने पर भी उससे स्पृहणीय नहीं है। उन्हे प्राचीन विचारों का उपासक पुरुष समाज अवहेलना की दृष्टि से देखता है, आधुनिक दृष्टिकोण वाले समर्थन का भाव रखते हुए भी क्रियात्मक सहायता देने मे असमर्थ रहते हैं और उग्र विचार वाले प्रोत्साहन देकर भी उन्हे अपने साथ ले चलना कठिन समझते हैं। वस्तुतः आधुनिक स्त्री जितनी अकेली है, उतनी प्राचीन नहीं, क्यों कि उसके पास निर्माण के उपकरण मात्र है, कुछ भी निर्मित नहीं। चौराहे पर खड़े होकर मार्ग का निश्चय करने, वाले व्यक्ति के समान वह सब के ध्यान को आकर्षित करती रहती है, किसी से कोई सहायतापूर्ण सहानुभूति नहीं पाती। यह स्थिति आकर्षक चाहे जान पड़े, परन्तु सुखकर नहीं कही जा सकती।

राष्ट्रीय आदोलन मे भाग लेनें वाली महिलाओं ने आधुनिकता को राष्ट्रीय जागृति के रूप में देखा और इसी जागृति की ओर अग्रसर होने मे अपने सारे प्रयत्न लगा दिये। उस उथल पुथल के युग मे स्त्री ने जो किया वह अभूतपूर्व होने के साथ साथ उसकी शक्ति का प्रमाण भी था। यदि उसके बलिदान, उसके त्याग भूले जा सकेंगे तो उस आदोलन का इतिहास भी भूला जा सकेगा। इस प्रगति-द्वारा सार्वजनिक रूप से स्त्री समाज को भी लाभ हुआ। उसके चारो ओर फैली हुई दुर्बलता नष्ट हो गई, उसकी कोरी भावुकता छिन्न-भिन्न हो गई और उसके स्त्रीत्व से शक्ति हीनता का लाञ्छन दूर हो गया। पुरुष ने अपनी आवश्यकता वश ही उसे साथ आने की आज्ञा दी, परंतु स्त्री ने उससे पग मिला कर चल कर प्रमाणित कर दिया कि पुरुष ने उसकी गति पर बंधन लगा कर अन्याय ही नहीं, अत्याचार भी किया है। जो पगू है

उसी के साथ गतिहीन होने का अभिशाप लगा है. गतिवान को जड़ बनाकर रखना सबसे बड़ी क्रूरता है।

राष्ट्र को प्रगति शील बनाने मे स्त्री ने अपना भी कुछ हितसाधन किया, यह सत्य है, परतु इस मधु के साथ कुछ झाग भी मिला था। उसने जो पाया वह भी बहुमूल्य है और जो खोया वह भी बहुमूल्य था, इस कथन मे विचित्रता के साथ साथ सत्य भी समाहित है।

आदोलन के समय जिन स्त्रियों ने आधुनिकता का आह्वान सुना उनमें सभी वर्गों की शिक्षिता और अशिक्षिता स्त्रियां रहीं। उनकी नेत्रियों के पास इतना अवकाश भी नहीं था कि वे उन सबके बौद्धिक विकास की ओर ध्यान दे सकतीं।

यह सत्य है कि उन्हें कठोरतम संयम सिखाया गया, परतु यह सैनिकों के सयम के समान एकाकी ही रहा। वह यह न जान सकीं कि युद्ध भूमी में प्रतिक्षण मरने के लिये प्रस्तुत सैनिक का सयम समाज मे युग तक जीवित रहने के इच्छुक व्यक्ति के सयम से भिन्न है। एक बधनों की रक्षा के लिये प्राण देता है तो दूसरा बधनों की उपयोगिता के लिये जीवित रहता है। एक अच्छा सैनिक मरना सिखा सकता है और एक सच्चा नागरिक जीना; एक मे मृत्यु का सौंदर्य है और दूसरे में जीवन का वैभव। परतु अच्छे सैनिक का अच्छा नागरिक होना यदि अवश्यम्भावी होता तो सम्भवतः जीवन अधिक सुन्दर बन गया होता।

सम्भवतः सैनिक का जीवन उत्तेजना प्रधान होगा और नागरिक का समवेदना प्रधान। इसीसे एक के लिये जो सहज है वह दूसरे के लिये असम्भव, नहीं तो कष्ट साध्य अवश्य है।

आंदोलन के युग में स्त्रियों ने तत्कालीन संयम और उससे उत्पन्न कठोरता को जीवन का आवश्यक अंग मान कर स्वीकार किया, अपने प्रस्तुत उद्देश्य का साधन मात्र मानकर नहीं। इससे उनके जीवन में जो एक रुक्षता व्याप्त हो गई है, उससे उन्हीं तक सीमित न रहकर उनके सुरक्षित गृह जीवन को भी स्पर्श किया है। वास्तव में उनमें से अधिकांश महिलायें रूढ़ियों के भार से दबी जा रही थीं, अतः देश की जागृति के साथ साथ उनकी क्रांति ने भी आत्म विज्ञापन का अवसर और उससे उपयुक्त साधन पा लिये। यही उन परिस्थितियों में स्वाभाविक भी था, परन्तु वे यह स्मरण न रख सकीं कि विद्रोह, केवल जीवन के विशेष विकास का साधन होकर ही उपयोगी रह सकता है। वह सामाजिक व्यक्ति का परिचय नहीं, उसके असंतोष की अभिव्यक्ति है।

उस करुण युग के अनुष्ठान में भाग लेने वाली स्त्रियों ने जीवन की सारी सुकोमल कला नष्ट करके संसार संग्राम में विद्रोह को अपना अमोघ अस्त्र बनाया। समाज उनके त्याग पर श्रद्धा रखता है परंतु विद्रोहमयी रुक्षता से सभीत है। जीवन का पहले से सुन्दर और पूर्ण चित्र उनमें नहीं मिलता, अतः अनेक आधुनिकता के पोषक भी उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं। अनन्तकाल से स्त्री का जीवन तरल पदार्थ के समान सभी परिस्थितियों के उपयुक्त बनता आ रहा है, इसलिये उसकी कठिनता आश्चर्य और भय का कारण बन गई है। अनेक व्यक्तियों की धारणा है कि उच्छृङ्खलता की सीमा का स्पर्श करती हुई स्वतन्त्रता, प्रत्येक अच्छे बुरे बंधन के प्रति उपेक्षा का भाव, अनेक अच्छे बुरे व्यक्तियों से सखत्व और अकारण कठोरता उनकी विशेषताएँ हैं। इस धारणा में भ्रान्ति का भी समावेश है, परंतु यह नितान्त निर्मूल नहीं कही जा सकती। परिस्थिति इतनी कठोर थी कि उन्हें उस पर विजय पाने के लिए कठोरतम अस्त्र ग्रहण करना पड़ा। उनमें जो विचारशील थीं, उन्होंने प्राचीन नारियों के समान कृपाण और कंकण का संयोग कर दिया, जो

नहीं थी। उन्होंने अपने स्त्रीत्व से अधिक विद्रोह पर विश्वास किया। वे जीने की कला नहीं जानतीं, परन्तु संघर्ष की कला जानती हैं, जो वास्तव में अपूर्ण है। संघर्ष कला लेकर तो मनुष्य उत्पन्न ही हुआ है, उसे सीखने कहीं जाना नहीं पड़ता। यदि वास्तव में मनुष्य ने इतने युगों में कुछ सीखा है तो वह जीने की कला कही जा सकती है। संघर्ष जीवन का आदि हो सकता है, अंत नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि संघर्षहीन जीवन ही जीवन है। वास्तव में मनुष्य जाति नष्ट करने वाले संघर्ष की ओर बढ़ती जाती है।

सामाजिक प्रगति का अर्थ भी यही है कि मनुष्य अपनी उपयोगिता बढ़ाने के साथ-साथ नष्ट करनेवाली परिस्थितियों की संभावना कम करता चले। किसी परिस्थिति में वह हिम के समान अपने स्थान पर स्थिर हो जाता है और किसी परिस्थिति में वह जल के समान तरल हो कर अज्ञात दिशा में वह चलता है। स्त्री का जीवन अपने विकास के लिए ऐसी ही अनुकूलता चाहता है परंतु सामाजिक जीवन में परिस्थिति की अनुकूलता में विविधता है। हम अपना एक ही केन्द्र-बिंदु बनाकर जीवन-संघर्ष में नहीं ठहर सकते और न अपना कल्याण ही कर सकते हैं। स्त्री की जीवनी शक्ति का ह्रास इसी कारण हुआ कि वह अपने आपको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति के अनुरूप बनाने में असमर्थ रही। उसने एक केन्द्र बिंदु पर अपनी दृष्टि को तब तक स्थिर रखा, जब तक चारों ओर की परिस्थितियों ने उसकी दृष्टि नहीं रोकली। उस स्थिति में प्रकाश से अचानक अंधकार में आये हुए व्यक्ति के समान वह कुछ भी न देख सकी। फिर प्रकृतिस्थ होने पर उसने वही पिछला अनुभव दोहराया।

जागृति-युग की उपासिकाओं के जीवन भी इस त्रुटि से रहित नहीं रहे। उन्होंने अपनी दृष्टि का एक ही केन्द्र बना रक्खा है, अतः उन्हें

अपने चारों ओर के संदिग्ध वातावरण को देखने का न अवकाश है और न प्रयोजन। वे समझती हैं कि वे राष्ट्रीय जागृति की अग्रदूती के अतिरिक्त और कुछ न बन कर भी अपने जीवन को सफलता के चरम सोपान तक पहुँचा देंगी। उस दिशा में उनकी गति का अवरोध करने वालों की संख्या कम नहीं रही, यह सत्य है। परंतु इसीलिए वे अपना गंतव्य भी नहीं देखना चाहती, यह कहना बहुत तर्क पूर्ण नहीं कहा जा सकता। ऐसा कोई त्याग या बलिदान नहीं जिसका उद्गम नारीत्व न रहा हो, अतः केवल त्याग के अधिकार को पाने के लिए अपने आपको ऐसा रुक्ष बना लेने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

जिन शिक्षिताओं ने गृह के बंधनों की अवहेलना कर सार्वजनिक क्षेत्र में अपना मार्ग प्रशस्त किया उनकी कहानी भी बहुत ऐसी ही है। उनके सामने नवीन युग का आह्वान और पीछे अनेक रूढ़ियों का भार था। किसी विशेष त्याग या बलिदान की भावना लेकर वे नये जीवन संग्राम में अग्रसर हुई थीं, यह कहना सत्य न होगा। वास्तव में गृह की सीमा में उनसे इतना त्याग और बलिदान माँगा गया कि वे उसके प्रति विद्रोह कर उठीं। स्वेच्छा से दी हुई छोटी से छोटी वस्तु मनुष्य का दान कहलाती है, परंतु अनिच्छा से दिया हुआ बहुत से बहुत द्रव्य मनुष्य का आधीनता-सूचक कर ही समझा जायगा। स्त्री को जो कुछ बलात् देना पड़ता है, वह उसके दान की महिमा न बढ़ा सकेगा, यह शिक्षित स्त्री भली भाँति जान गई थी।

भविष्य में भारतीय समाज की क्या रूप रेखा हो, उसमें नारी की कैसी स्थिति हो, उसके अधिकारों की क्या सीमा हो, आदि समस्याओं का समाधान आज की जाग्रत और शिक्षित नारी पर निर्भर है। यदि वह अपनी दुरावस्था के कारणों को स्मरण रख सके और पुरुष की स्वार्थ-परता को विस्मरण कर सके तो भावी समाज का स्वप्न सुन्दर और

सत्य हो सकता है। परन्तु यदि वह अपने विरोध को ही चरम लक्ष्य मान ले और पुरुष से समझौते के प्रश्न को ही पराजय का पर्याय समझ ले तो जीवन की व्यवस्था अनिश्चित और विकास का क्रम शिथिल होता जायगा।

क्रांति की अग्रदूती और स्वतंत्रता की ध्वजा-धारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण में शेष होगा, केवल ध्वंस में नहीं।



लोक गीत

गान मनुष्य-हृदय के लिए स्वाभाविक है। सुख में हो या दुख में मनुष्य गाये विना नहीं रह सकता। सुख मे गा कर वह उल्लसित होता है, दुःख मे गाकर दुःख को भूलता है। गान मानव-जीवन का भोजन है। आदि काल से मानव हृदय गाता चला आया है। सूर्य के प्रखरताप से हल चलाता हुआ किसान अपने गान से उसकी प्रखरता को भूलता है, अँधेरी रात मे चलता हुआ ऊट वाला तान लगाता चला जाता है और मरुभूमि की भीषण शून्यता का भान भुला देता है, गाड़ीवाला पहिया की ढचक-ढचक ध्वनि के साथ मिलाता हुआ उजेली रात मे कोस-के-कोस पार कर जाता है, जगल मे भेड़ो को चराते हुए गडरिये के गान से सारा जगल प्रतिध्वनित होकर न केवल उसकी ध्वनि को ही किन्तु उसके अतस्तल को भी प्रतिध्वनित कर देता है, कुएँ पर बारी आने की प्रतिक्षा मे गाता हुआ 'बारिया' 'कालिये' को आगे बढने का आदेश देता जाता है और 'लाव' पर बैला के पीछे बैठा हुआ 'कीलिया' अपने गान के द्वारा बैला को प्रोत्साहित करता हुआ बढाये चलता है, ईट और गारा ढोता हुआ मजदूर गान मे मस्त होकर जीवन मे कठोरता को भूल जाता है।

आदिम मनुष्य हृदय के इन्ही गानो का नाम लोक-गीत है। मानव-जीवन की, उसके उल्लास की, उसकी उमंगो की, उसकी करुणा की, उसके रुदन की, उसके समस्त सुख-दुःख की कहानी इनमे चित्रित है। न जाने कितने काल को चीर कर ये गीत चले आ रहे हैं। काल का विनाशकारी प्रभाव इनका कुछ नही बिगाड़ सका। किसी कलम ने इन्हे लेख बद्ध नहीं किया पर ये अमर हैं। सर्व भक्षक समय ने इनको मिटाने के लिये कितने प्रयत्न किए होगे पर ये आज भी उसकी असफलता पर मुस्कराते हुए जनता की जिह्वा पर नाच रहे हैं। वह खीझता है, इनको

तोडता है, मरोडता है, पर मिटा नही सकता। कालान्तर में उनका भाव रूप परिवर्तित हो जाता है। भाषा का आवरण धीरे २ बदल जाता है— पर भीतरी प्राणतत्व में कोई अन्तर नहीं आता।

धीरे-धीरे लोक-गीतों ने पैर पसारे। चारणी जाति के हाथो में पड़ कर इन्होंने दूर-दूर की यात्रा कर डाली। ढाढियों ने उनको सारंगी पर उतारा, पाबूजी के थोरियों ने रावण हत्थे को रण-रणित किया भैरव के भोपों ने 'मशक' पर गाया, जोगियों ने तानपूरे पर ललकार मारी। घर-घर में प्रेम, करुणा, वीर और शांत रस की धारा बह चली। अधिक नहीं, रूखी रोटी का एक टुकडा पुरस्कार रूप देकर आज भी आप इस धारा में आप्लावित होने का आनंद उठा सकते हैं।

बहार दीवारी लाँघ कर ये गीत हमारे घरों के भीतर जा पहुँचे। चक्की चलाती हुई और दही मथती हुई स्त्रियों ने प्रभातियाँ छेड़ीं माता ने लोरियाँ गायीं बहनों ने अंतःकरण का सारा स्नेह भाइयों पर उड़ेल दिया। पत्नी ने मान मनावन किये, विरह वेदना गायी, कागों और कुरजों के साथ संदेसे भेजे और सूनी सेज की शिकायत की। सिर पर घडा और घडे पर 'बेवडा' रखे, पानी को जाती हुई, पनिहारियों ने अपनी मीठी वाग्-धारा से अग-जग को आप्लावित कर दिया। आज भी सध्या समय काम-काज से निपटने के पीछे गानार्थ जुडा हुआ नारी-मण्डल और बालिका समाज गाँव-गाँव में दिखाई पड़ेगा।

नारी ने कितना गाया है। सीमंत के गीतो द्वारा गर्भस्थ शिशु को गीत-रस पिलाया, जन्मकर 'हाल रे' गाये, माँ के मुँह से निकली लोरियो की गोद में नवजात शिशु सोया और जागा। बालक ने जनेऊ पहना, गीत गाये गये। वह पढने बैठा गीत गाये गये। सगाई हुई गीत गाये गये। विवाह हुआ हर्ष में पागल बनी माता बनडे गवाने बैठी। नववधू घर आई, गीतों ने उसका स्वागत किया। घर में उत्सव हुआ, बिना

गीतो के कैसे सम्पन्न हो ? त्योहार आये, गीतो का गाया जाना तो अनिवार्य ठहरा।

हमारा समस्त गृहस्थ जीवन नारी का गान है। उस गान में कहीं माँ के मीठे स्नेह की सुरसरिता बह रही है, तो कहीं पत्नी के प्रेम-निर्भर की वेगवती श्यामा कलिन्द-नन्दिनी। बहन के पावन-प्रेम की सुधा सिंचित सरस्वति ने तो गजब ढा दिया। जैसा स्वर्गीय सम्बन्ध भाई-बहन का है, वैसा ही निर्मल मधुर बहन का गान।

कितना मनोरम, कितना मर्मस्पर्शी और कितना स्वाभाविक है यह नारी का गान। अंतस्तल की तन्त्री के एक-एक तार को झंकृत कर देने वाले इस गान को सभ्यता के कृत्रिमता-पूर्ण वातावरण में रहने वाले शास्त्रीय कलाकार की वाणी पहुँचे तो कैसे पहुँचे !/

नारी हृदय में जब-जब सुख-दुःख, आशा-निराशा, उमग-आघात की प्रबल लहर उठ खडी हुई तभी वह गान के रूप में फूट निकला। उसने अपने भावो को (भले हो या बुरे) निष्कपट रूप से शब्दो का रूप दिया है। उसमें सरलता है, निश्छलता है, भाव-गोपन की भावना कहीं नहीं मिलती। भीतर कुछ और बाहर कुछ-यह तो हमारी इस अतिप्रशसित सभ्यता की ही देन है। लोक-गीतों का नारी-हृदय इस सभ्यता के वातावरण से कोसो दूर है।

कुटुम्ब-जीवन के जुदा-जुदा सम्बंधो के अनेक स्वाभाविक चित्र इन गीतो में देखने को मिलते हैं। भाई बहन का प्रेम, ससुराल में नव-वधू की व्यथा, सास-ननद के अत्याचार, जिठानी का रोब जमाना, देवरानी का निर्दोष-भाव, निस्सतान स्त्री का नरक-तुल्य जीवन, और उस पर बरसते हुए वाग्बाण, छोटी-छोटी बातों से दुख जाने वाला बहन का हृदय इत्यादि-इत्यादि व जाने कितने सुन्दर एव असुन्दर गृह-चित्रो की रेखायें इन गीतो में उतारी गई हैं।

इन गीतों में दाम्पत्य-जीवन गाया गया, वियोग के महीने गाये गये, सूनी सेज की वेदनायें गायी गईं, मान-मनावन गाया गया। पर यह न समझिये कि इनमें केवल रुदन ही रुदन है, इनमें वह मार्मिक विनोद भी मिलेगा कि आप फड़क उठेंगे।

देश और गाँव का इतिहास इन गीतों में गाया गया। इन्होंने शूरों को 'शूरातन' चढ़ाया। वीर-हृदयों में वीरत्व की स्फुरणा की। वीर गति पाने वालों का नाम अमर रक्खा। अलिखित इतिहास को विस्मृति के गर्त में जाने से बचाया। समाचार पत्रों से रहित उस जमाने में हास्य तिरस्कारोत्पादक घटनाओं के व्यङ्ग चित्र भी इनमें उतारे गये। लोक जीवन में जो कोई प्रवाह उमड़ा उसी का चित्र लोक गीतों में अंकित हो गया। लोक-गीत लोक-जीवन का चित्र है।

ये लोक-गीत सच्चे काव्य हैं। 'कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा तथा निर्वाह होता है' 'सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का भीतरी सामञ्जस्य ही कविता का लक्ष्य है' ये लक्षण लोक-गीतों से अधिक किस पर लागू होंगे? प्रकृति अपने नाना रूपों में इन रूपों में अंकित हुई है। वह हमारे साथ कभी रोती है, कभी हँसती है, कभी गरजती है, कभी गाती है। वन-पर्वत, नदी-नाले, कछार पटपर, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी अनंत-अवकाश, और नक्षत्र-मण्डल, खेत-दुर्रा हल-झोपड़े आदि मनुष्य के आदिम सहचर इनमें भुलाये नहीं गये हैं। काग, कुरज और सुग्गे प्रेयसी के विरह-संदेश-वाहक। जलाशयों के किनारे सखियाँ इकट्ठी होकर सुख-दुख की कहानी सुनती-सुनाती तथा गले लगाकर हँसती रोती हैं। तारा-मण्डित आकाश फूलों से लदी सेज की याद दिलाता है। वृक्षों में झूमती हुई लता-प्रिय से मिली हुई संयोगिनी का स्मरण कराती है। चन्द्र-विहिन रात्री, बिजली-विरहित मेघमाला, मयूर-विहीन अटविका

यूथप-विहीन मृग-मण्डली प्रिय से वियुक्त विरहिणी का चित्र खड़ा करती है। ऋतु वर्णन मे तो उन-उन ऋतुओं की आत्मा ही खड़ी कर दी गई है।

नारी की इस महान् सृजन-शक्ति का लोप अभी नहीं हो सकता है। जब कभी उसके अंतर मे कोई प्रबल 'उमंग' उठ खड़ी होती है तभी एक नवीन गीत की सृष्टि की जाती है परन्तु प्रगतिमान सभ्यता के प्रभाव मे यह शक्ति कब तक बची रहेगी, यह कौन कह सकता है? सभ्यता और तथा कथित संस्कृति लोक साहित्य की महान् शत्रु है, जैसा प्रोफेसर किटरिज ने कहा है—

शिक्षा इस मौखिक साहित्य की मित्र नहीं होती। वह उसे इस वेग से नष्ट करती है कि देख कर आश्चर्य होता है। ज्यों ही कोई जाति लिखना-पढना सीख जाती है त्यो ही वह अपनी परम्परागत कथाओं की अवहेलना करने लग जाती है, यहाँ तक की उनसे थोडे बहुत लज्जा का अनुभव भी करने लगती है, और अंत मे उनको याद रखने तथा पीढी दर पीढी हस्तान्तरित करने की इच्छा एवं शक्ति से भी हाथ धो बैठती है। जो चीज कभी समस्त जनता की थी वह केवल निरक्षरों की सम्पत्ति रह जाती है, और यदि पुरातत्व-प्रेमियों द्वारा संग्रहित न करली जाय तो सदा के लिये विलुप्त हो जाती है।

———

दो-दो बातें

कोई दिन था कि हम कुछ थे, कुछ नहीं बहुत कुछ थे। देवता हमारा मुँह जोहते थे, स्वर्ग में हमारी धूम थी, और धरती हमारे उधारने से ही उधरती थी। हम आसमान में उड़ते, समुद्र को छानते, जंगलों को खँगालते, और पहाड़ों को हिला देते थे, दुनियाँ में हमारे नाम लेवा थे, देश-देश हमारी धाक थी, दिशाएँ हमारी जोत से जगमगाती थीं और आसमान के तारे हमें आँख फाड़ फाड़ कर देखते थे। हम अंधकार में उजाला करते थे, बंद आँखों को खोलते थे, सोतों को जगाते थे और उकठे काठ को भी हरा-भरा बना देते थे। सूरमापन हम पर निछावर होता था, दिलेरी हमारी बाँट में पड़ी थी, बहादुरी हमारा दम भरती थी, और आनबान हमारा गहना था। हम बेजान में जान डालते थे, सूखी नसों में लहू भरते थे, बिगड़ों को बनाते थे, गिरों को उठाते थे, बेजड़ों की जड़ जमाते, और भूलों को राह पर लगाते थे। बड़े-बड़े अठकपाली हमारे सामने अपना अठ-कपालीपन भूल जाते थे। हमारा तेवर बदलते ही बेतरह आँख बदलने वाले राजा महाराजाओं का रङ्ग बदल जाता था, और दुनियाँ में हवा बाँधने वालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगती थीं। आज ये बातें मुँह पर नहीं लाई जा सकतीं। अब हमारा रंग इतना बिगड़ गया है कि हम पहिचाने भी नहीं जा सकते। हमीं लोगों में ऐसे लोग हैं, जो यह जानते ही नहीं कि हम क्या और कौन थे और अब क्या हो गए। इसमें न किसी का जादू काम कर रहा है और न किसी का टोना, न दैव हमारे पीछे पड़ा है, न बुरा भाग जो कुछ हम लोग भोग रहे हैं वे हमारी करतूतों के फल हैं, और आज भी वे हमें रसातल ले जा रही हैं।

आज दिन हमारे सिर-धरों का ही सिर नहीं फिर गया है, आगे चलने वाले भी आग लगा रहे हैं, और भगवा पहनने वाले भी भाँग

खाये बैठे हैं। जिनको वीर होने का दावा है, वे भाइयों की मूँछें उखाड कर मूछ मरोड़ रहे हैं, दूसरों का घर मूस कर अपना घर भर रहे हैं, औरों के लहू से हाथ रङ्ग कर अपना हाथ गरम कर रहे हैं, सगों का पेट काट कर अपना पेट पाल रहे हैं, और बेबसों के घर को जला कर अपने घर मे घी के दिये बाल रहे हैं। पूँजीवालों का पेट दिन-दिन मोटा हो रहा है, पर किसी सटे पेटवाले को देखते ही उनकी आँख पर पट्टी बँध जाती है। सएडे-मुसएडे डएडे के बल माल भले ही चाब लें, पर भूख से जिनकी आँखें नाच रही हैं, उनको वे कानी कौडी भी देने के रवादार नहीं। जो हमारा मुँह देख कर जीते हैं, हम उन्हीं को निगल रहे हैं, और जो हमारे भरोसे पाँव फैला कर सोते हैं, हम उन्हीं को आँखें बंद करके लूट रहे हैं। हमीं मे डूब कर पानी पीने वाले हैं, आँख में ऊँगली करने वाले हैं, खडे बाल निगलने वाले हैं, आग लगाकर पानी को दौडने वाले हैं, रंगे सियार हैं, भीगी बिल्ली हैं, और काठ के उल्लू हैं।

आज हमारे घरों मे फूट पाँव तोड कर बैठी है, बैर अकडा हुआ खडा है, अनबन की बन आई है, रगडे-झगडे गुलछर्रे उडा रहे हैं। हम से लम्बी लम्बी बाते सुन लो, लम्बी डगे भरने की कहानियाँ कहलवा लो, लेकिन लम्बी तान कर ही हमे सोना पसन्द है। आँख होते हमें सूझता नही, कान होते हम सुनते नही, हाथ होते हम बे हाथ हैं और पाँव होते बे पाँव। समझ चल बसी, विचारों का दिवाला निकल गया, आस पर ओस पड़ गई, सूझ को पाला मार गया, मगर कान पर जूँ तक नही रेंगती। बेटियाँ बिक रही हैं, माँ बहिनें लुट रही हैं, जोरू पिस रही हैं, मगर हमे दाँत पीसना नही आता। दूसरे धूल मे फूल उगाते हैं, हमे फूल मे भी धूल ही हाथ आती है। लोग काँटो मे फूल चुनते हैं, हम काँटो मे उलझ-उलझ मरते हैं। आबरू उतर गई, पत-पानी चला गया, बड़ाई धूल मे मिल गई, मगर हम धूल फाँकने मे ही मस्त हैं।

हम आसमान के तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँखो के तारे भी नहीं देते। हम पर लगा कर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी पर पालिश करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं मेल जोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट मे भरा पड़ा है। हम जाति जाति को मिलाने चलते हैं, मगर ताव अछूतों से आँख मिलाने की भी नहीं। हम जाति हित की ताने सुनाने के लिए सामने आते हैं, मगर ताने दे-दे, कलेजा छलनी बना देते हैं। हम कुल हिन्दू जाती को एक रंग मे रँगना चाहते हैं, मगर जाति-जाति के अपनी अपनी डफली और अपन २ राग ने रही सही एकता को भी धता बता दिया है। हम चाहते हैं देश को उठाना, पर आप मुँह के बल गिर पड़ते हैं। हमे देश की दशा सुधारने की धुन है, पर आप सुधारने पर भी नहीं सुधरते। हम चाहते हैं कि जाति की कसर निकालना मगर हमारे जी की कसर निकाले भी नहीं निकलती। हम जाति को ऊँचा उठना चाहते हैं, पर हमारी आँख ऊँची होती ही नहीं। हम चाहते हैं जाति को जिलाना, मगर हमे मर मिटना आता ही नहीं।

हिन्दू जाति अपनी भूल भुलैयाँ मे बेतरह फँसी है, इससे हमारा जी दुखी है, हमारा कलेजा चोट खा रहा है, दिल मे फफोले पड रहे हैं। जितनी ही जल्द हिन्दुओं की आँखे खुले, उतना ही अच्छा। हमे उनका जी दुखाना, उन्हें कोसना, उन्हें बनाना, उन्हें खिजाना, उनकी उमङ्गों को मटिया मेट करना पसन्द नहीं। अपने हाथ से अपने पाँव मे कुल्हाड़ी कौन मारेगा, अपनी उँगलियों से अपनी आँखो को कौन कुचलेगा ? मगर अपनी बुराइयों, कमजोरियो, भूलचूका, ऐबों, लापरवाहियों और नासमझियों पर आँख डालनी पड़ेगी। बिना इसके निर्वाह नही।

'मानस' की धर्म-भूमि ।

'धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है, यह हम कहीं कह चुके हैं। धर्म है ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल-विश्वस्थिति में मिलता है। इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार परिवार और समाज ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमण्डल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है। परिवार और समाज की रक्षा में, लोक के परिचालन में और समष्टि रूप में, अखिल विश्व की शाश्वत स्थित में सत् की इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि सत्स्वरूप की इस प्रवृत्ति का साक्षात्कार जितने ही विस्तृत क्षेत्र के नीचे हम करते हैं भगवत्स्वरूप की ओर उतनी ही बढ़ी हुई भावना हमें प्राप्त होती है। कुल-विशेष के भीतर ही जो इस प्रवृत्ति का अनुभव करेंगे उनकी-भावना कुल-नायक या कुल-देवता तक ही पहुँचेगी, किसी जाति या देश-विदेश के भीतर जो करेंगे उनको भावना उस जाति या देश के नेता अथवा उपास्य देवता तक पहुँच कर रह जायगी। भक्त की भावना इतनी ही दूर आकर सतुष्ट नहीं होती। वह अखिल विश्व के बीच सत् की इस प्रवृत्ति के साक्षात्कार की साधना करता है। उसके भीतर का 'चित्' जब बाहर का साक्षात्कार करता है तब आनद का आविर्भाव होता है। इस साधना द्वारा वह भगवान का सामीप्य लाभ करता चला जाता है। इसी से तुलसी को राम 'अतर-जामिहु ते बड बाहिरजामी' लगते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उसके सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति अर्थात् धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं—जैसे—गृह-धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म और विश्व-धर्म या पूर्णधर्म। किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म की अपेक्षा विस्तृत जन समूह के कल्याण से सबध रखने वाला धर्म उच्च-कोटि का है। धर्म की उच्चता

उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृह-धर्म या कुल धर्म से समाज धर्म श्रेष्ठ है, समाज धर्म से लोक धर्म, लोक-धर्म से विश्व-धर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण-स्वरूप में दिखाई पड़ता है। यह पूर्ण धर्म अंगी है और शेष धर्म अंग। पूर्ण धर्म, जिसका लक्ष्य अखिल विश्व की स्थिति रक्षा है, वस्तुतः पूर्ण पुरुष या पुरुषोत्तम में ही रहता है, जिसकी मार्मिक अनुभूति सच्चे भक्तों को ही हुआ करती है। इसी अनुभूति के अनुरूप उनके आचरण का भी उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। गृह-धर्म पर दृष्टि रखने वाला किसी परिवार की रक्षा देखकर, वर्ग धर्म पर दृष्टि रखने वाला किसी वर्ग या समाज की रक्षा देखकर और लोक धर्म पर दृष्टि रखने वाला लोक या समस्त मनुष्य जाति की रक्षा देखकर आनंद का अनुभव करता है। पूर्ण या शुद्ध धर्म का स्वरूप सच्चे भक्त ही अपने और दूसरों के सामने लाया करते हैं, जिनके भगवान् पूर्ण धर्म-स्वरूप हैं। अतः वे कीट पतंग से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की रक्षा देखकर आनंद प्राप्त करते हैं। विषय की व्यापकता के अनुसार उनका आनंद भी उच्च कोटि का होता है।

धर्म की जो ऊँची-नीची भूमियाँ ऊपर कही गई हैं, वे उसके स्वरूप के संबंध में; उसके पालन के स्वरूप के संबंध में नहीं। पालन का स्वरूप और बात है। उच्च से उच्च भूमि के धर्म का आचरण अत्यन्त साधारण कोटि का हो सकता है इसी प्रकार निम्नभूमि के धर्म का आचरण उच्च से उच्चकोटि का हो सकता है। गरीबों का गला काटने वाले चींटियों के बिलों पर आटा फैलाते देखे जाते हैं, अकाल पीड़ितों की सहायता में एक पैसा चंदा न देने वाले अपने डूबते मित्र को बचाने के लिए प्राण संकट में डालते देखे जाते हैं।

यह हम कई जगह दिखा चुके हैं कि ब्रह्म के सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति को लेकर गोस्वामीजी की भक्ति-पद्धति चली है। उनके राम पूर्ण धर्म-स्वरूप हैं। राम के लीलाक्षेत्र के भीतर धर्म के विविध रूपों

का प्रकाश उन्होंने देखा है। धर्म का प्रकाश अर्थात् ब्रह्म के सत्स्वरूप का प्रकाश इसी नाम रूपात्मक व्यक्त जगत् के बीच होता है। भगवान् की इस स्थिति विधायिनी व्यक्त कला में हृदय रमाकर, बाह्य जगत् के नाना कर्मक्षेत्रों के बीच धर्म की दिव्य ज्योति के स्फुरण का दर्शन न करके जो आँख मूँदे अपने अंतःकरण के किसी कोने में ही ईश्वर को ढूँढा करते हैं उनके मार्ग से गोस्वामीजी का भक्तिमार्ग अलग है। उनका मार्ग ब्रह्म का सत्स्वरूप पकड़ कर धर्म की नाना भूमियों पर से होता हुआ जाता है। लोक में जब कभी भक्त धर्म के स्वरूप को तिरोहित या आच्छादित देखता है तब मानो भगवान् उसकी दृष्टि से—खुली हुई आँखों के सामने से—ओझल हो जाते हैं। और वह वियोग की आकुलता का अनुभव करता है। फिर जब अधर्म का अन्धकार फाड़कर धर्म ज्योति फूट पड़ती है तब मानो उसके प्रिय भगवान का मनोहर रूप सामने आ जाता है और वह पुलकित हो उठता है।

हमारे यहाँ धर्म से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कही गई है। अतः मोक्ष का किसी ढङ्ग के मोदन का मार्ग धर्म मार्ग से बिल्कुल अलग-अलग नहीं जा सकता। धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। अतः हमारे जीवन को पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है। साधना किसी प्रकार की हो, साधक को पूरी सत्ता के साथ होनी चाहिए—उसके किसी अङ्ग को सर्वथा छोड़ कर नहीं। यह हो सकता है कि कोई ज्ञान को प्रधान रख कर धर्म और उपासना को अङ्ग रूप में लेकर चले, कोई भक्ति को प्रधान रखकर ज्ञान और कर्म को अङ्गरूप में रखकर चले। तुलसीदासजी की भक्ति को प्रधान रखकर चलने वाले अर्थात् भक्तिमार्गी थे। उनकी भक्तिभावना में यद्यपि तीनों का योग है, पर धर्म का योग पूर्ण परिमाण में है। धर्म भावना का उनकी भक्ति भावना से नित्य संबंध है।

'रामचरित मानस' में धर्म की ऊँची-नीची विविध भूमियों की झाँकी हमें मिलती है। इस वैविध्य के कारण कहीं कहीं कुछ शंकाएँ भी उठती हैं। उदाहरण के लिए भरत और विभीषण के चरित्रों को लीजिए।

जिस भरत के लोकपावन चरित्र की दिव्य दीप्ति से हमारा हृदय जगमगा उठता है, उन्हीं को अपनी माता को चुन-चुनकर कठोर वचन सुनाते देख कुछ लोग सन्देह में पड़ जाते हैं। जो तुलसीदास लोकधर्म या शिष्ट मर्यादा का इतना ध्यान रखते थे। उन्हीं ने अपने सर्वोत्कृष्ट पात्र द्वारा उसका उल्लंघन कैसे कराया? धर्म की विविध भूमियों के संबंध मे जो विचार हम ऊपर प्रकट कर आये हैं उन पर दृष्टि रखकर यदि समझा जाय तो इसका उत्तर शीघ्र मिल जाता है। यह हम कह आये कि धर्म जितने ही अधिक विस्तृत जन समूह के सुख-दुःखसे संबंध रखनेवाला होगा उतना ही उच्च श्रेणी का माना जायगा। धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है। जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पड़ेगा वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय में भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है। राम पूर्ण धर्म स्वरूप हैं, क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। जिसे राम प्रिय नहीं उसे धर्म प्रिय नहीं, इसी से गोस्वामीजी कहते हैं—

जाके प्रिय न राम वैदेही।

सो नर तजिअ कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

इस राम-विरोध या धर्म विरोध का व्यापक दुष्परिणाम भी आगे आता है। राम-सीता के घर से निकलते ही सारी प्रजा शोक मग्न हो जाती है, दशरथ प्राण त्याग करते हैं। भरत कोई संसार त्यागी या विरक्त नहीं थे कि धर्म का ऐसा तिरस्कार और उस तिरस्कार का कटु परिणाम देखकर भी क्रोध न करते या साधुता के प्रदर्शन के लिए उसे

पी जाते। यदि वे अपनी माता को, माता होने के कारण, कटु वचन तक न कहते तो उनके राम प्रेम का, उनके धर्म-प्रेम का उनकी मनोवृत्ति के बीच क्या स्थान दिखाई पड़ता ? जो प्रिय का तिरस्कार और पीड़न देख कर क्षुब्ध न हो, उसके प्रेम का पता कहाँ लगाया जायगा ? भरत धर्म-स्वरूप भगवान् रामचन्द्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रक्खे गये हैं। अतः काव्य-दृष्टि से भी यदि देखिये तो इस अमर्ष के द्वारा उनके राम प्रेम की जो व्यंजना हुई है वह अपना विशेष लक्ष्य रखती है। महाकाव्य या खण्डकाव्य के भीतर जहाँ धर्म पर क्रूर और निठुर आघात सामने आता है वहाँ श्रोता या पाठक का हृदय 'अन्यायी का उचित दण्ड-धिग्दण्ड के रूप में सही—देखने के लिये छटपटाता है। यदि कथा-वस्तु के भीतर रहउसे दण्ड देने वाला पात्र मिल जाता है तो पाठक या श्रोता की भावना तुष्ट हो जाती है। इसके लिए भरत से बढ कर उपयुक्त और कौन पात्र हो सकताथा जिन भरत के लिए ही कैकेई को कितनी आत्मग्लानि हुई होगी। ऐसी आत्म-ग्लानी उत्पन्न करने की ओर भी कवि का लक्ष्य था। इस दरजे की आतमग्लानि और किसी युक्ति से उत्पन्न नही की जा सकती थी।

साराश यह कि यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की अव-हेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोधके लिएकिसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लघन असगत नही। काव्यमें तो प्रायः ऐसी अवहेलना से उत्पन्न क्षोभ की अबाध व्यजना के लिये मर्यादा का उल्ल-घन आवश्यक हो जाता है।

अब विभीषण को लीजिये, जिसे गृहनीति या कुलधर्म की स्थूल और सकुचित दृष्टि से लोग 'घर का भेदिया' या भ्रातृद्रोही कह सकते हैं। तुलसीदासजी ने उसे भगवद्भक्त के रूप मे लिया है। उसे भक्तो की श्रेणी में दाखिल करते समय गोस्वामीजी की दृष्टि गृहनीति या कुलधर्म की सकुचित सीमा के भीतर बधी न रह कर व्यापक लक्ष्य वाले धर्म की ओर

थी। धर्म की उच्च और व्यापक भावना के अनुसार विभीषण को भक्त का स्वरूप प्रदान किया गया है। रावण लोक पीड़क है, उनके अत्याचार से तीनो लोक व्याकुल हैं, उसके अनुयायी राक्षस अकारण लोगो को सताते हैं और ऋषि मुनियों का वध करते हैं। विभीषण इन सब बातों से अलग दिखाया गया है। वह रावण का भाई होकर भी लङ्का के एक कोने में साधु-जीवन व्यतीत करता है। उसके हृदय मे अखिल लोक रक्षक भगवान की भक्ति है।

सीता-हरण होने पर रावण का अधर्म पराकाष्ठा को पहुँचा दिखाई पड़ता है। हनुमान से भेंट होने पर उसे धर्म स्वरूप भगवान के अवतार हो जाने का आभास मिलता है। उसकी उच्च धर्म भावना और भी जान पड़ती है। वह अपने बड़े भाई रावण को समझाता है। जब वह किसी प्रकार नही मानता, तब दो धर्मों के पालन का सवाल आता है—एक ओर गृह-धर्म या कुल-धर्म के पालन का, दूसरी ओर उससे अधिक उच्च और व्यापक धर्म के पालन का। भक्त की धर्म भावना अपने गृह या कुल के तंग घेरे के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होती है। अतः वह चट लोक-कल्याण-विधायक धर्म का अवलम्बन करता है और धर्ममूर्ति भगवान श्री राम की शरण में जाता है।

मुद्रक—जगदीशप्रसाद शर्मा, कमल प्रिंटिंग प्रेस, जौहरी बाजार, जैपुर।

वसुधा का पालतू काव्य

मौसम में उत्पन्न होने वाले वृक्षों, फलों और जीवधारियों की तरह मौसम में उत्पन्न होने वाली कला त्रिकाल बाधित या अमर नहीं होती, वह क्षणजीवी होती है। मौसम बदला नहीं, कि वस्तु मरी नहीं।

कला कभी बहुत ऊँची हो जाती है, वहां वह वृक्षों की फुनगियों से पिरामिडों और वहां से पक्षियों और वायुयानों से बातें करती हुई नक्षत्रों तक पहुँचती है। कहीं कला बहुत गतिमान, दौड़ने वाली होती है, वह अपने प्रकटी कारण के विस्तार में, नदियों और पहाड़ों को लांघ कर पहुचती हुई बड़े-बड़े समुद्रों को लांघकर समझ सकने, या समझ रखने के अन्तिम कोण तक पहुचती है। कहीं कला अत्यन्त गहरी होती है–वह मणिधरों की तरह, गहरी से गहरी अँधेरी गम्भीरता में उतर कर अपनी पहुच का प्रकाश जमीन पर डोलते हुए मानव के पास तक पहुँचाती है। कहीं कला, कोमल भाव व रंगों के जल की गहराई में उतरते-उतरते कठोर रत्नों को खोजने में सफल होती है, जो रत्न युग के घनों से नहीं तोड़े जा सकते। किन्तु इस ऊंचाई, इस गति, इस गाम्भीर्य और इस गहराई के अत्यन्ताभाव में भी, प्राणवान कला का निवास है। 'अ' को अक्षर ब्रह्म कहा है, काल तथा कला में केवल 'अ'-कार मात्र ऽ अपना स्थान बदल लेता है। कला तो समझ के काल का माप है।

चूसना, हजम करना, सांस लेना, देखना, सुनना, चिल्लाना, बदन को सिकोड़ना, बदन फैलाना, रग-रग में रक्त पहुँचाना,–ये बातें मानव को किसी स्कूल में, किसी शिक्षक के द्वारा नहीं सिखानी पड़ती। करते हैं, यह बातें मनुष्य, स्वभावजन्य करता है। तब कम से कम हमारे कथन, हमारी वाणी, हमारे साहित्य में तो रस, ग्रहण-शक्ति,

जीवन या ताजगी, दृष्टि-कोण या अप्रत्यक्ष तक देखने की शक्ति, विश्व के हृदयो, कार्यो और घटनाओं की तथा अंतरतम की ध्वनि, विश्व की और परिस्थिति की कराह या चीत्कार, जरूरत पर विस्तृत होजाने और परिस्थिति मे सिकुड़ जाने की शक्ति, पहुँच के विस्तार में भौगोलिक और मानव धारणा के बन्धन लाँघ जाने का बल और माला बनाते समय फूलो के कलेजे मे से जाने वाले डोरे की तरह वस्तु-वस्तु मे व्याप्त होजाना, यह गुण तो हमारी रचना मे 'इन्स्टिंक्ट' से—स्वभावजन्य -आने चाहिये।

नोचना, चाटना, दुम हिलाना, रोना, कराहना, छींकना आदि नौ से अधिक होने वाली क्रियाएँ भी हम अपने आप ही करते हैं, किन्तु इन पर जीवन-यापन करना, साहित्यिक का, अपने पूर्व पुरुष,-पशुओं की विरासत कायम रखना ही कहा जायगा।

जब से झाडो पर चढने की आदत छूटी, तब से हमारी कल्पना ने हरी-हरी सफल डालियो पर लंबी छलाँग मारना भी छोड़ दिया। अब हम बनी हुई सड़क पर आराम से चलते हैं। लीक-लीक! सुपुत्र जो ठहरे!

हाथी और घोडे झाड़ो पर नहीं चढते, किन्तु हम प्रयत्न से चढ सकते हैं! यानी हममे 'स्व-भाव' तो है 'किन्तु छलाँगे मारने का अभ्यास भर छूट गया है। स्वभाव के परे अभ्यास को पहुँचाकर हम प्रयत्न-जन्मा नहीं हो सकते?

दुनिया की वैभव-बखेर में पशु पक्षी पेट के बल रेंगने वाले और कीडे मकोडे सब चलते हैं। क्या हम इसी तरह जिन्दगी बिता देंगे? क्या हम परिस्थितियों को खुद उत्पन्न कर उन पर जीने वाले 'मानव' नहीं हो सकते? फिर हमारी कलम से तो वर्षा–पतित, भूमि–दूपित जल

ही निकलेगा—चाहे किसी रूप में निकले। उस में से रक्त, और जीवन-रस क्यों टपकने लगा ?

पशु गर्मी, सर्दी और वर्षा—लाचारी से सहता है, किन्तु मानव अपने जीवन के तापमान का नियमन करता है। वर्षा, शरद् और ग्रीष्म में वह अपने शरीर और रहन-सहन में स्वयं ताप-मान का नियन्त्रण और निर्माण करता है। तब बुद्धि और जीवन के जगत् में तापमान निर्माण न कर सकने वाले यदि पशु जीवन न बितावें तो और कौनसा जीवन उनके लिये शेष है? तापमान निर्माण करने के पथ में, मानव ने पहले आगी ढूंढी। प्रकृति के अनुकूल, अपना मौलिक तापमन ढूँढने के लिये, मानव ने आग बनाई। शरीर की गर्मी ही ने उसे सिखाया होगा। क्या हम भी साहित्य को मौलिक, अमर, दीर्घजीवी बनाने के लिये, अपने अन्दर और बाहर के तन्तुओं की रगड़ से आग बना सकते हैं? मुझे जीवन को तो अस्तित्ववान मरण ही कहना पड़ेगा।

मनोभावना के चढ़ाव-उतार की मौलिकता को सबसे बड़ी हानि पहुँचाई हमारे चढाव-उतार रहित जीवन की नास्तिक सुविधा ने। कठिनाइयां उपजाकर, उनसे विविध बाजुओं से खेलकर, न जाने हम में कौनसी शक्ति, कौनसी प्रेरकता, कौनसा आविष्कार जागता। किन्तु खा, पी और मौज से रहने की पतित मनोवृत्ति ने, विचारों की क्रियाशीलता को जन्म देने के बजाय विचारों की ऐय्याशी को जन्म दिया। विचारों के प्रकटीकरण में हम कितने चौकन्ना कि समाज, साहित्य, धर्म, तत्त्व, राजनीति—किसी क्षेत्र में संकट खड़े करना ही नहीं चाहते। परिणामतः हम, आए हुए संकटों के प्रारम्भिक प्रहारों ही में प्राण दे बैठते हैं। सुविधा और आनन्द के मानो, मौलिक भाषा में हुए ऐयाशी और नास्तिकता।

आगी से दियासलाई, फिर दीये या मोम बत्तिया, फिर गैस, फि बिजली—हमारी आविष्कृत मूल अग्नि के शोध पर, कैसे कठोर अग्नि संस्कार। परिणामतः भोजन, भजन, भागना, मरना, मारना, सब कु मशीनों से होने लगा। दयावान मानव के नाश को, विकाश कह जाने लगा।

थरथराते हुए, यदि कहीं दूर जंगल में आग सुलगती दीखी। व लाल-पीलासा प्रकाश। और बिना रास्ते की प्रतीक्षा किये चल पड़ मानव उसी ओर। उसने लम्बाई से मुड़ना, ऊंचाई से चढना जाना जब राह मे नदी या पहाड़ मिल गया। फिर साप, शेर, काटे, खटक, सब तो पुरुष के पथ मे-जिसमें पुरुषार्थ निकला। उस दूर दीखने वाली आग मे, फिर उस बीहड़ मार्ग मे, फिर शीत की आधी रात के समय, एक किरात-वृद्धा की झोंपड़ी के आगन में हाथ सेकने के लिए अंगारो के मिलने में—एक एक में कितना काव्य!-पनचक्कियों मे, गैस के चूल्हों में और बिजली के वाहनो के नीचे हमारा काव्य न जाने क्या होगया। अब हम कविता-पंक्ति में यदि तलवार का नाम लाते हैं, तो हमारे मरे और सुकोमल हाथ, हिलती कमर और घुँघराले लटकते बाल मानो हम से आगे कहने दौड़ते हैं—

"डरना मत मुए यह तस्वीर की तलवार है"

हम डिक्शनरी का पहाड़, नक्शे की नदी और चलचित्रो के पर्दे, अपनी रचनाओं में लिखते-लिखते, यहा तक पहुचे कि भावो की रगड़ से भावो के टुकड़े चुराने और औरो के भाव कुशलता से परोसने ही को अपनी प्रतिभा कहने लगे।

हमने अपने जीवन का अधिक भाग ना-काफी महत्त्व की चीज समझकर बिता दिया। और चिन्ता और सुध आई तो शक्ति और सासें नाकाफी रह गई थीं।

प्रतिभा-हीनता में हम अपनी योग्यता की कमी अपने आतंक द्वारा पूरी करते नजर आते हैं। उस समय जो थोड़े शब्द बोलते हैं, वे भी हमारे अपने नहीं होते, अतः उन्हें रहस्य-मय, दो अर्थों या अनेक अर्थों वाला बोलने लगते हैं।

हमने मछली, कछुए, शूकर,--न जाने किस किस में, अपने प्रभु की कल्पना की। किन्तु हम भूल ही गये कि ये हमारी पहुँच के अवतार हैं--जल, थल और न जाने कहाँ-कहाँ के वज्र-गामी। किन्तु हम तो रेल के डब्बे में, दाई द्वारा पैदा कराये गये हैं। किसान की सी विस्तृत, मल्लाह की सी गम्भीर, वायु-यानी की सी ऊंची नजर हम में आवे कहां से? तिस पर भी हम हैं साहित्य के आचार्य ही।

यही क्यों, विश्व की कठिनाइयों में रह कर, पुरुषार्थ को शरीर पर उतारने का उदाहरण रखने वाले पशु-पक्षियों आदि को भी हमने मानवत्व प्रदान किया। उन्हें पालतू बना डाला। वे इस बात के उदाहरण हैं कि पालतू साहित्य कैसा होता है। तोते सीताराम बोले--पर पिंजड़े के खुले द्वार से उड़ने की शक्ति ही नहीं। मछली कुएँ में आकर तैरतार भले ही ले, किन्तु मालिक ने जब चाहा पकड़ कर मार ली, या कुएँ का पानी सूखा, और बस खतम वह मीलों पानी की दौड़। बैल हो या गाय, शाम को खूटा ढूढता चला आये। घोड़ा अपने पर पड़ने वाला कोड़ा मुंह में लेकर, प्रहारक सरकस वाले के आस पास नाचे। हाथी, रोट का मुहताज और अंकुश से बे-काबू। यह वसुधा का पालतू काव्य है, जिसकी रचना मानव ने की है। तब उसकी दिमागी कृति के विषय में अधिक क्या कहा जाय। उसे एक ही विशेषण काफी है--वह "पालतू" चीजें लिखता है। तब कला की दुनियां में पर्वतों से कौन टकरावे, नदियों का प्रवाह किससे थमे और नक्षत्रों से कौन कानाफूसी करे?

ताज

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाया चाहता है। मनुष्य जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे जिसे पीकर वह अमर हो जाय। किन्तु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रतिदिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है तब उसका हृदय तड़पने लगता है। भविष्य में आने वाले अंत के तथा उसके अनंतर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं सर्वस्व के विनष्ट होने के विचार मात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार वह इस अप्रिय सत्य को भूल जाय और उसे ही भूलने के लिये, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही के लिये, कई बार मनुष्य सुख-सागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार-मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के इस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किन्तु उनकी समग्र वस्तुए, स्मृतिया, स्मृति-चिह्न आदि सब कुछ बह जायेंगे, इस संसार मे तब उनके ससारिक जीवन का चिह्न-मात्र भी न रहेगा और उनको याद करने वाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक ससार में अपनी स्मृतिया—अमिट स्मृतिया—छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अंत अवश्य-भावी है, किन्तु सोचते हैं कि सम्भव है उनकी स्मृतिया संसार में रह जॉय। पिरेमिड, स्फिंक, बड़े बड़े मकबरे, कीर्तिस्तंभ, कीलिया, विजय द्वार, विजय-तोरण आदि कृतिया मनुष्य की इसी इच्छा के फल

हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी, अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिये मनुष्य ने भिन्न भिन्न प्रयत्न किए किसी ने एक मार्ग का अवलम्बन किया, किसी ने दूसरे का। कई एक विफल हुए, अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव-समाज की स्मृति पर चिह्न तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के ऐसे प्रयत्नों के खंडहर आज भी सारे संसार मे यत्रतत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूकभाव से मनुष्य की इस इच्छा को देखकर हंसते हैं तथा रोते हैं! मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आंसू गिराते हैं। परन्तु यह देखकर भी अभी तक मनुष्य अपनी विफलता को नहीं जान पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही आशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है। मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल मे फंसा हुआ है। वे मूकभाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृगतृष्णा पर विक्षिप्त कर देने वाला अट्टहास करते हैं।

परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की नहीं चलती तथापि कोई एक मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया है, उन्होंने ऐसी चाले चली हैं कि वे समय के उस प्रलयकारी भीषण प्रवाह को रोकने मे समर्थ हुए हैं। उन्होंने समय को अनुपम सौंदर्य्य के अदृश्य पाश मे बांध डाला, उसे अपनी कृतियों की अनोखी छटा दिखाकर लुभाया है, यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृतियों को ही नहीं किन्तु अपने भावों के स्मारकों को भी चिरस्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव-मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है

× × × ×

वह अंधकार-मयी रात्री थी। सारे विश्व पर घोर अंधकार छाया हुआ था तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य

का वह सितारा, भारत-सम्राट के हृदय-कुमुद का वह चांद आज सर्वदा के लिये नष्ट होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। अंतिम घड़िया थीं। उन सुख मय दिनों का, प्रेम तथा सुख से पूर्ण छलकते हुए उस काल का अब अंत होने वाला था। संसार कितना अचिरस्थायी है।

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत-सम्राट के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग, बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किन्तु अकाल काल का झोंका आया। वह झिलमिलाती लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे धीरे प्रकाश कम हो रहा था, दुर्दिन की काली घटाएँ उस अन्धेरी रात्री के अन्धकार के अधिक कालिमामय बना रही थीं, आशा-प्रकाश की अंतिम ज्योति रेखाये निराशा के उस अन्धकार में विलीन हो रही थीं। और तब...सब अन्धेरा ही अन्धेरा था।

इस सांसारिक यात्रा की अपनी सहचरी प्राण-प्रिया से अन्तिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा था, फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को देखकर पुनः एकबार लौ बढ़ी, बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज के नेत्र खुले। अंतिम मिलाप था। उन अंतिम घड़ियों मे, उन आखों के द्वारा क्या क्या मौनालाप हुआ होगा, उन दोनो प्रेमियों के हृदयों मे कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की बाते लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती।

अंतिम क्षण थे, सर्वदा के लिये वियोग हो रहा था, देखतीं आखों शाहजहा का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत सम्राट हताश हाथ पर हाथ धरे बैठा किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा होने की तैयारी कर रही थी। शाहजहा की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमंगो पर,

पाला पड रहा था। क्या क्या आशाऐं थीं, क्या क्या अरमान थे ! जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी तभी एकाएक शाहजहाँ को उसकी जीवन-संगिनी ने छोड़ दिया। ज्योंही सुख-मदिरा का प्याला होठों को लगाया कि वह प्याला गिर पड़ा, चूर चूर होगया और वह सुख मदिरा मिट्टी मे मिल गई पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिये अदृष्ट होगई।

हाय ! अंत होगया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवन का एक मात्र साथी सर्वदा के लिये छोड कर चल बसा। भारत-सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताज महल सदा के लिये इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहाँ का शाह था, परन्तु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी कहते हैंकि इस जीवन का संग तथा वियोग क्या है, एक प्रवाह में साथ बहते हुए लकडी के टुकड़ों के साथ साथ विलग होने के समान है। परन्तु क्या ये विचार एक संतप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं ? क्या ये भावनाऐं चिरकाल की विरहाग्नि में जलते हुए हृदय को सान्त्वना प्रदान कर सकती हैं ? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा जीवन संग्राम का एक तटस्थ दर्शक भले ही कुछ भी कहे, किन्तु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए, हृदयों की क्या दशा होती है, वह एक भुक्तभोगी ही कह सकता है।

\+ + + +

वह चली गई, सर्वदा के लिये चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को, अपने बिलखते हुये प्यारे बच्चों को तथा समग्र दुःखी संसार को छोड कर, उस अंधियारी रात में न जाने वह कहां चली गई। चिरकाल का वियोग था। शाहजहाँ की आंख ने एक आँसू टलका, उस संतप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुंदर शरीर पृथ्वी को भेंट हो गया; अगर कुछ शेष रहा तो उसकी सुखप्रद स्मृति तथा उस स्मृति पर, उसके उस चिर वियोग पर, आहें तथा आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुन्दर मूर्ति, मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई। और उस मूर्ति के वे भग्नावशेष ! जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अंचल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तप्त आखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकल कर वे इस बाह्य जगत् में आए थे। वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय के ठंडे झोको के थपेढे खाकर उन्होने एक ऐसा सुन्दरस्वरूप धारण किया कि आज भी न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं और न जाने कितने हृदयों में हल चल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाए गए शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गए।

सब कुछ समाप्त हो गया था, किन्तु अब भी कुछ आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी मृत्युन्मुख प्रियतमा के प्रति उस अंतिम भेंट के समय किए गए अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं संसार के उस चाद की उन शुष्क हड्डियो पर एक ऐसी कब्र बनावे कि वह संसार के मकबरों का ताज हो। शाहजहां को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध शुद्ध प्रेम को स्वच्छ, श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे धीरे भारत की उस पवित्र महा नदी यमुना के तट पर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक चबूतरा बनाया गया, उस पर सफेद सगमरमर का ऊँचा चबूतरा निर्माण किया गया, जिसके

चारो कोनों पर चार मीनार बनाए गए जो बेतार के तार से चारो दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे है तथा उसका यशोगान करते है। मध्य मे शनैः शनैः मक्बरा उठा। यह मकबरा भी उस श्वेत वर्णवाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौदर्य्य मे अनुपम तथा अद्वितीय था। अन्त मे उस मकबरे को एक अतीव सुंदर किन्तु महान गुम्बज का ताज पहनाया गया।

पाठको! उस सुन्दर मकबरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा नही कर सकती, फिर बेचारी जड लेखनी का क्या कहना? अनेक शताब्दियाँ बीत गईं, भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुन्दर कला तथा महान् समाधि के निर्माण-कर्त्ता भी समय के इस अनन्त गर्भ मे न जाने कहा विलीन हो गए, परन्तु आज भी वह मकबरा खडा हुआ, अपने सौदर्य से ससार को लुभा रहा है। वह शाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति अनन्य तथा अगाध प्रेम का, फल है। वह कितना सुन्दर है? आँखे ही देख सकती हैं, हृदय ही उसकी सुन्दरता का अनुभव कर सकता है। ससार उसकी सुन्दरता को देखकर स्तब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृता प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अञ्जली अर्पण की तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारो और चतुर कारीगरों के हाथो शुद्ध प्रेमको इस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवाकर पवित्र प्रेमकी वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धाजलि अर्पित की उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

× × × ×

बरसों के परिश्रम के बाद अंत मे मुमताज का वह मकबरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षोंकी साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। जब इस मकबरे के पूर्ण होने पर शाहजहां पूरे समारोह के साथ उसे देखने गया होगा। इतिहासकारो ने उस दिन के भारत की ही नहीं,

संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का वर्णन कहीं नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मकबरे के-संसार की उस महान् कृति के-दर्शनार्थ एकत्र हुये होंगे? उस दिन मकबरे को देखकर भिन्न भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे! किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देखकर गौरव का अनुभव किया होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है, जिसकी तुलना करने के लिये संसार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले; कई एक उस मकबरे की छवि को देखकर मुग्ध हो गए होंगे, न जाने कितने चित्रकार उस सुन्दर कृति को अंकित करने के लिए ही दौड़ पड़े होंगे, न जाने कितने कवियों के मस्तिष्क में क्या २ अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

(परन्तु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था जिसके हृदय में भिन्न भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध हुआ था। दो आँखें ऐसी भी थीं जो बाह्य सुन्दरता को चीरती हुई, एकटक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आँखें थीं शाहजहाँ की आँखें। जिस समय शाहजहां ने ताज के उस अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा उस समय उसके हृदयकी क्या दशा होगी, सो वर्णन करना अति कठिन है। उसके हृदय में शांति हुई होगी कि वह अपने प्रियतमा के प्रति किए गए अपने प्रण को पूर्ण कर सका। उसको गौरव का भी अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र-अपनी उस जीवन-संगिनी यादगार-ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिले। किन्तु उस जीवित मुमताज के स्थान पर अपनी जीवन-संगिनी की शुष्क हड्डियों पर यह कब्र-वह कब्र कैसी ही सुन्दर क्यों न हो पाकर शाहजहां के हृदय में लगती हुई चिर वियोग की अग्नि क्या शांत हो गई होगी? क्या श्वेत संगमर्मर पत्थर का वह सुन्दर मकबरा मुमताज की

मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था? मकबरे को देखकर शाहजहां की आँखों के सम्मुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा, प्रियतमा मुमताज की स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त स्मृति जग उठी होगी और पुनः चोट खाए हुए उस हृदय के वे पुराने घाव हरे हो गए होंगे।

पाठको! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देखकर दो आँसू बहाए बिना नहीं रह सकते तब आप ही स्वयं विचार कर सकते हैं कि शाहजहां की क्या दशा हुई होगी? अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और रहे सहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुखपूर्ण जीवन का मध्याह्न होने ही वाला था कि उस जीवन-सूर्य को ग्रहण लग गया और ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुन्दरता-पूर्ण तेजोमयी लपटों का एक घनीभूत सुन्दर पुंज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

× × × ×

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी वह उस सुन्दर गुम्मज बुर्ज में शय्या पर पड़ा ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घंटों उसे निहारा करते हैं। न जाने कितने उस उद्यान में बैठे प्रेमपूर्ण जीवन के नष्ट होने की उस करुण कथा पर रोते हैं। न जाने कितने दूर दूर देशों से बड़े बड़े भयकर समुद्र पार कर उस समाधि को देखने के लिये खिंचे चले आते हैं। वे कितनी उमंगों से आते हैं, और उसासे भरते हुए हो चले जाते हैं। कितने हर्ष से आते हैं, किन्तु दो आंसू बहाकर ही जाते

हैं। प्रकृति भी प्रति वर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भग होने की करुण स्मृति पर रोती है।

मनुष्य-जीवन की, मनुष्य के उस दुःख पूर्ण जीवन की–जहाँ मनुष्य की कई वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम के बंधन बंधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़कर टूट जाते हैं–मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति-उसकी अतृप्त वासनाओं तथा खिलते हुए प्रेम-पुष्प की वह समाधि-आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह साम्राज्य, उसका वह तख्त-ताऊस, उसका वह महान् घराना, शाही जमाने का वह गौरव, आज सब कुछ विलीन हो गया–समय के कठोर झोंको मे पड़ कर वे सब आज नष्ट हो गए। ताजमहल का वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे रत्न भी न जाने कहाँ चले गए, किन्तु आज भी ताजमहल अपनी सुन्दरता से समय को लुभाकर उसे भुलावा दे रहा है और यों मानव-जीवन की उस करुण-कथा को चिरस्थायी बनाए हुए है। वैभव से विहीन ताजका यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफेद पत्थरो से आवाज आती है–"मै भूला नहीं हूँ"। आज भी उन पत्थरो मे न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूंद प्रति वर्ष उस सम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है, वे कठोर पत्थर भी प्रति वर्ष उस सुंदर सम्राज्ञी की मृत्यु को याद कर, मनुष्य की इस करुण-कथा को देख, पिघल जाते हैं और उन पत्थरो मे से एक आसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई उस भग्न मानव-जीवन की करुण-कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिये दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न हृदय की कथा यादकर कभी कभी यमुना नदी का हृदय प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके हृदय मे भी आसुओं की बाढ आजाती है।

उन श्वेत पत्थरो से आवाज आती है—"आज भी मुझे उसकी स्मृति है।" आज भी उस खिलते हुये प्रेम-पुष्प का सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का जो अकाल मे ही डंठल से टूट पड़ा—उन पत्थरों मे रम रहा है। वह टूटा हुआ पुष्प सूख गया, उसका भौतिक स्वरूप उस लोक मे रह गया, परंतु उस सुदर पुष्प की आत्मा विलीन होगई, अनंत में अंतर्हित हो गई। अपने अनंत के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़ कर चली गई, केवल पत्थर की उस सुदर किंतु व्यक्त समाधि में उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने उस निराकार मृत्यु को अक्षय सौन्दर्यपूर्ण स्वरुप प्रदान किया। मनुष्य के अचिर स्थायी प्रेम की, प्रेमाग्नि की उस धधकती हुई अग्नि को चिरस्थायी बनाया।

वादत्रयी

[रहस्यवाद, छायावाद एवं संकेतवाद]

समाज जिस वस्तु का नाम है वह तीन वस्तुओं का समष्टि स्वरूप है। धर्म, नीति और सामाजिकता (यहां सामाजिकता शब्द का भाव है—वे साधारण रहन-सहन के सिद्धान्त और व्यवहार जो आम तौर पर समाज मे प्रचलित हैं) यही तीन वस्तुएं जहां एकता-ग्रहण कर लेती हैं, समाज का स्वरूप सम्पूर्ण हो जाता है।

धर्म, नीति और जीवन चर्या (सामाजिकता) का वैयक्तिकरूप जब सार्वजनिक रूप धारण कर लेता है तभी उसका नाम समाज पड़ता है।

जिस प्रकार वायु और जल निस्तब्ध नहीं रह सकते उसी प्रकार समाज का हृदय कभी विचार शून्य नहीं रह सकता। उसमे विचार-लहरी का ताता कभी टूटने नहीं पाता।

आदान-प्रदान का भाव सनातन है। मानव-शरीर में, सृष्टि के विकास में, समाज की स्थिति में, विश्व के संचालन में, प्रत्येक मे ही यह आदान-प्रदान-व्यापार होता आया है।

सामाजिक-क्षेत्र में इसी आदान-प्रदान-विक्रिया को 'विचार धारा' नाम दिया गया है। जब यह 'विचारधारा' शब्द अपने विस्तृत दायरे में पहुँचता है तो पूर्व और पश्चिम के नैतिक जीवन की पर्यालोचना आरंभ हो जाती है।

पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन या संघर्ष ही वर्तमान युग की सबसे बड़ी समस्या है। विश्व-जीवन की प्रगति इसी संघर्ष के प्रतिफल

स्वरूप में हमारे समक्ष प्रकट है। जैसे-जैसे पूर्व और पश्चिम का सामीप्य दृढ होता है, भावना परिवर्तन के रूप में आदान-प्रदान-वाद परिपुष्ट होता जाता है। वस्तुतः पूर्वीय अध्यात्मयुग और पाश्चात्य भौतिकयुग दोनों का एकीकरण वर्तमानयुग का विकाससूत्र है।

सर्व प्रथम विकार, भाव में आता है। तब कहीं कार्यक्षेत्र में उसका फल दिखाई पड़ता है। अस्तु कहने का तात्पर्य है कि उस आदान-प्रदान-प्रक्रिया का सबसे पहला प्रभाव हमारे साहित्य पर पड़ा। साहित्य किसी जाति का भावना-कोष होने के नाते समाज के व्यष्टि स्वरूप—धर्म नीति और सामाजिकता तीनों का सामजस्य होता है। अतः दो भावनाओं का सघर्ष, दो जातियों का संघर्ष, दो राष्ट्रों का सघर्ष एक दूसरे के भावना-कोष (साहित्य) जीवन-चर्या नीति और धर्म तक प्रभाव डालता है। यह बात दूसरी है कि अधिक जीवनी शक्ति जिस जाति के भावों में होगी वह उतनी ही ज्यादा निर्लिप्त रह सकेगी। परन्तु साधारण नियम यही है कि विजित जाति पर विजेता जाति का प्रभाव अधिक पड़ता है। परन्तु भारत इस नियम का सर्वथा तो नहीं बल्कि कुछ अंशों में अपवाद स्वरूप ही है।

पूर्व की जीवन-ज्योति का आधार अभी तक अध्यात्मवाद है। जब कि पश्चिम विकृत-भावुकता के बल पर व्यवहारवाद के असत्य नाम से जीवन-जाग्रत करने में सफलता का ठेकेदार बन रहा है। परन्तु लक्ष्य दोनो का यही है कि संसार में सान दीर्घ काल तक अनुण्ण रूप से चलता रहे। किन्तु वर्तमान में अधकार दोनों ओर है। पश्चिम में जीवन का एक मात्र आधार भौतिकवाद है और पूर्व में धार्मिक भावना का अतिरेक।

जब पूर्व और पश्चिम में भावों के आदान-प्रदान की मात्रा जोर पकड़ गयी तब पूर्व में एक नवीन भावनाकोष का जन्म हुआ। और यही नवीन भावना-कोष है वादकर्ता का विवाद रक्षा करने का हेतु।

नवीन भावना-कोष को हम नवीन विचार धारा भी कह सकते हैं। परन्तु विचारधारा एक प्रकार से मस्तिष्क का विकार होता है जब कि भावना हृदय का संस्कृत एवं मूर्तस्वरूप।

प्रस्तुत लेख के विवेचनीय वादत्रय में रहस्यवाद का स्थान पहिला है। रहस्यवाद का विकास हृदय और मस्तिष्क दोनो से सम्बन्ध रखता है। जहां तक रहस्य का अर्थ शुद्ध आत्मतत्त्व से सम्बन्धित है वहा तक रहस्यवाद का क्षेत्र हृदय-रहता है। और जहा इसका हृदय से सम्बन्ध हटने लगता है वहा विचारतत्त्व का प्राधान्य बढने के कारण यही रहस्यवाद मस्तिष्क का विषय बनने लगता है।

मनुष्य की रचना का मूल्य हृदय और मस्तिष्क की सूक्ष्म किन्तु सरहस्यमय स्थिति पर ही है। इन दोनो ही अङ्गों में विकार होना संसार में प्रवृत्ति होने का श्रीगणेश है। भावना हृदय की प्रयत्न-असाध्य सूक्ष्म क्रिया है और विचार-तत्व (तथ्यातथ्य निर्णय) मस्तिष्क के विकास-क्रम के अनुसार स्वतः प्रस्फुटित, विवेक-कोष के ज्ञानतन्तुओं की कोमल प्रकम्पना है। वस्तुतः रहस्यवाद का अधिक सम्बन्ध है हृदय से ही। अन्तरात्मा के शुद्ध स्वरूप का सौंदर्य के सहारे सहसा स्मृति-गम्य हो सकना ही रहस्यवाद कहलाता है। अथवा ब्रह्म या ईश्वर की काल्पनिक प्रतिमा का संयोगिक साक्षात्कार तथा स्पष्ट अभेद्य एवं तात्कालिक अनुभव ही रहस्यवाद है।

यह तो हुआ रहस्यवाद का वास्तविक स्वरूप। रहस्यवाद का यह स्वरूप भारत के प्राचीन कालीन ऋषि, महर्षियोने खूब समझा है। हिन्दी-साहित्य मे भी दादू, कबीर, नानक और दूसरे-दूसरे भक्त एवं सन्त कवियो ने रहस्यवाद के इसी स्वरूप को खोल कर समझाने का प्रयत्न किया है। प्रकृति और परमेश्वर का रहस्योद्घाटन करने में सप्रयत्न रहकर जहाँ तक हो सका इस ओर पर्याप्त खोज की है।

परन्तु जहाँ हृदय का कृत्रिम स्वरूप मस्तिष्क के विवेक-क्षेत्र पर अपना असत्य आरोप करता है वहाँ से जो रहस्यवाद नाम का एक नवीनवाद निकलता है वह है वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्धि पाने वाला 'छायावाद'।

छायावाद ब्रह्म या ईश्वर के साथ आत्मा का संभवतः संयोग-साक्षात्कार और तात्कालिक अनुभव का सिद्धान्त है। क्योंकि हृदय का आडम्बरपूर्ण आरोप और मस्तिष्क का विवेकपूर्ण वैशिष्ट्य ही इसके जनक हैं।

छायावाद के लिये बेलजियन कवि मैटरलिक कहता है:—

Those institutions, grasps of guess,
Which pull the more into the less,
Making the finite comprehand infinity.

जब से पूर्व और पश्चिम का भाव-संघर्ष हुआ है अंग्रेजी भाषा के 'Mysticism' शब्द के 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' दोनों ही पर्याय-वाची समझे जाते हैं।

वैसे तो रहस्यवाद शब्द अपने मूल अर्थ में भावना या आन्तरिक अनुभूति का नाम है, जिसमें मनुष्य दृश्य-जगत् की मूक प्रेरणा से अभिभावित होकर सामान्यसत्ता की खोज करके उसके साथ साक्षात् एवं संयोगिक सम्बन्ध की स्थापना कर लेने पर एक अलौकिक-वैभव को प्राप्त हो जाता है।

एक सच्चे रहस्यवादी के लिये संसार के सभी पदार्थ उस अनन्त सत्ता के द्योतक हैं जो स्वयम् एक बड़ा भारी रहस्य है। जिस प्रकार एक कलाकार की कृति का सौंदर्य उसके स्वयं के स्वरूप का अनुभव करा देने में समर्थ होती है उसी प्रकार दृश्य-विश्व उस परम श्रेष्ठ कलाकार

का भाव सामीप्य स्थापित कर देने में श्रेष्ठ साधन का कार्य करता है। इसका कारण है कि उस कलाकार की कला की कलात्मकता पर मुग्ध होकर हम जब अपने स्वरूप को भुला देते हैं तब हमारा इसके--जिसे देखकर हम निजत्व से परे पड़ जाते हैं--कलाकार के साथ तादात्म्य स्थापित होने से साक्षात् संयोगिक एवम् स्पष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

यद्यपि यह सब कुछ होता बाह्य जगत् के संसर्ग से ही है परन्तु इसकी अन्तिम अवस्था--जो परमानन्द दशा होती है उसका इन बाह्य (सांसारिक) उपकरणों से कोई सम्बन्ध शेष नहीं रह जाता है। यह है काव्य में रहस्यवाद का स्थान।

जहां रहस्यवाद की पहिली अवस्था उपस्थित होकर रह जाती है, वहां रहस्यवाद का नाम 'छायावाद' होता है। वर्तमान हिन्दी-साहित्य संसार में इसी 'छायावाद' की छाया नजर आती है। बल्कि इतना भी नहीं। अब तो लोग ऐसी रचना को छायावादी रचना कहने लगे हैं जिसका कोई अर्थ स्पष्ट नहीं हो, क्लिष्टता जिसका आधार हो, अनर्थ जिसकी आत्मा हो।

कहां वह विश्वात्मभाव जहां रहस्य का उद्गम होता है और कहां उसकी वर्तमान परिभाषा।

यहां छायावाद और रहस्यवाद का भेद स्पष्ट करने के लिये यह कहा जा सकता है कि विश्वात्म का ऐसा विवेचन जिसमें विचारतत्त्व का आडम्बरपूर्ण हृदय से संयोग रहे, वह छाया वाद, और जहां अनुभूतिपूर्ण संयोग रहे वह रहस्यवाद है।

रहस्यवाद का स्वरूप बदलते-बदलते छायावाद और छायावाद का सिद्धान्त फिसलते-फिसलते संकेतवाद का रूप ग्रहण कर लेता है। हिन्दी

साहित्य में आजकल या तो छायावादी या संकेतवादी दो ही प्रकार के कवियों का प्राचुर्य है।

सकेतवाद (Symbolism) एक प्रकार का कविता का वह टग हो सकता है जिसमे प्रकृत के द्वारा अप्रकृत का सकेत रहता है। इस शैली को 'मूर्तवाद भी कह सकते हैं। हृदय को भावना का इजहार किसी तद्रूप सकेत के सहारे प्रस्फुटित होता है। दृश्य जगत् के पदार्थों का प्रतिबिम्ब या छाया सकेतवादी कवि के विचरण-क्षेत्र की सीमा बनाते हैं।

संकेतवादी का कार्य प्राकृतिक पदार्थों की कलात्मकता खोजना है। संसार का कोई भी पदार्थ अनुपयोगी नहीं। प्रत्येक पदार्थ की रचना एक मसलहत--रहस्य--है। इसी रहस्य को आदर्श-दृष्टि से प्रकाश मे लाना सकेतवादी का उद्देश्य होता है।

सकेतवाद का क्षेत्र बाह्य-विश्व का और विचारतत्त्व का सम्पर्कस्थल है। सकेतवादी का विचारतत्त्व जब कभी अधिक विकसित हो जाता है, वह संकेत हेतु--दृश्य पदार्थों--का लोप करके भावना की ललित-लहरियों पर उतराने लगता है।

उपर्युक्त तीनों ही वाद यद्यपि हमारे यहाँ प्राचीन- काल में भी प्रस्तुत थे, परन्तु हिन्दी-साहित्य का वर्तमान स्वरूप—जो निस्सन्देह पूर्व और पश्चिम की टक्कर से उद्भूत विचारधारा का परिणाम है—आज इसी वादत्रय का एक अनूठा और विवादास्पदस्वरूप लेकर उपस्थित हो रहा है। अथवा यह हमारे प्राचीन आचार्यों के विचार-विनिमय-सिद्धान्त के स्वरूप मे हजारों वर्ष पूर्व, ससार के जागने से पहिले ही, उपस्थित हो चुके हैं। यह तो बात ही दूसरी है समय के प्रभाव से उनका विलोप न होकर फिर उद्भव होने का नया साधन पाने के कारण वे नया रूप, नई परिभाषा और नया विवेचन पाकर पुराने होकर भी नये हो जायँ।

साधारणतया विचारधारा के दो मुख्य विभाग हो सकते हैं (१) प्राज्ञानिक और (२) वैज्ञानिक। प्राज्ञानिक विचारधारा या बौद्ध-विचारों का सम्बन्ध भावना से और वैज्ञानिक का मस्तिष्क से।

हमें शास्त्रों ने बतलाया है कि अखिल-संसार एक ऐसे हृदय का भाव-चित्र है जिसका रहस्य जानना कठिन ही नहीं दुस्साध्य है। प्राचीन अन्वेषकों ने भाव चित्रों को व्यक्त करने के लिये निदान-विद्या से कार्य लिया है।

हमारे देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भावनाओं के व्यक्ति स्वरूप हैं। भाव एक ऐसी सूक्ष्म वस्तु है जिसका कोई चित्र नहीं बन सकता। परन्तु फिर भी भाव समीक्षकों ने उनके आकार निश्चित करने की चेष्टा की है।

नवरस के लिये बतला चुके हैं कि यह नव प्रकार की चित्त वृत्तियाँ हैं। सभी काव्याचार्यों ने रस को भावात्मक-वस्तु माना है। इन नव भावना प्रधान अवस्थाओं के निदान-विद्या के अनुसार रंग, स्वरूप और कार्य कल्पित किये जाकर इन्हें चित्ररूप दे दिया गया है।

आप देखते है, काला रंग शोक का चिह्न है। क्यों? किस सिद्धान्त के आधार पर? कालेपन से और शोक से क्या मतलब? श्वेत रंग ही कीर्ति का द्योतक क्यों माना जाय और दूसरा रंग क्यों नहीं? इन विवेचनात्मक प्रश्नों का उत्तर यही है कि निदान-विद्या ने भावनाओं को व्यक्त करने के साधनस्वरूप यह संकेत नियत कर दिये है। आप देख सकते है दो में से दो को शेष करने पर शून्य शेष रह जाता है। यद्यपि शून्य का कोई महत्त्व नहीं परन्तु 'नास्ति' का भाव हृदय में जो विकार उत्पन्न करता है उसका संकेत यह शून्याकार [०] है। अस्तु,

हमारे शास्त्रों मे सकेतवाद का सूत्र इस रूप मे—जो सकेत का वास्तविक और तथ्यरूप है--मिलाता है।

वर्तमान संकेतवाद का सूत्र यद्यपि वही निदान विद्या है। परन्तु आजकल उसमें और वर्त्तमान संकेतवाद में रात-दिन का अन्तरस्पष्ट है। आजकल संकेतवाद को रहस्यवाद के साथ मिला देने का है एकान्त एवं अविकल प्रयत्न चल रहा है। और इसका कारण है दो विचारधाराओ का संघर्ष।

सूर के दार्शनिक विचारों पर एक दृष्टि

परमात्मा और मनुष्य के सम्बंध का नाम धर्म है। आत्मा की कुछ विशेष आवश्यकताओं और बुद्धि के प्रभाव से इस का जन्म होता है। सच्चा धर्म तो तर्क और ज्ञान पर अवलम्बित है। अपने चारों ओर पाई जाने वाली अनन्त सत्ता से मनुष्य इसको स्थापित करता है। जातियों के विचारों और संस्कारों के अनुसार इस सम्बंध के अनेक रूप होते हैं। आदर्श ब्राह्मण अपने को ब्रह्म का अंग मान कर उसी में लीन हो जाने को अपना अन्तिम ध्येय समझते हैं, बौद्ध धर्मावलम्बी समस्त वासनाओं के अभाव में ही 'निर्वाण' की आशा रखता है। परन्तु यह निश्चय है कि मनुष्य में तीन ऐसी शक्तियां हैं जो उसे धर्म की ओर अग्रसर करती है-अनुभूति, विचार और प्रेरणा।

सूरदास में तीनों का समावेश है परन्तु पहली और तीसरी का प्रस्फुटन उनमें विशेष रूप से हुआ है। सूर के जीवन में अनेक घटनायें घटीं परन्तु उन सब से अधिक प्रभाव महाप्रभु वल्लभाचार्य के सम्पर्क का पडा। इसने उनकी विचारधारा को एकदम परिवर्तित कर दिया और निराकार की उपासना करने वाला सूर साकार का भक्त बन बैठा। अतएव यह स्वाभाविक है कि महाप्रभु के दार्शनिक विचारों में ही सूर के विचारों की पृष्ठभूमि मिलनी चाहिए।

महाप्रभु के दार्शनिक विचारों का विवरण देना प्रस्तुत लेख का अभिप्राय नहीं है परन्तु कुछ मोटी मोटी बातों का ज्ञान अनावश्यक नहीं माना जा सकता। वल्लभाचार्यजी के श्रीकृष्ण परम ब्रह्म हैं जिनके हाथ और पैर अप्राकृतिक हैं और जिनका शरीर सत्, चित्, आनन्द से मिलकर बना है। उनका नाम पुरुषोत्तम है और उनकी सब क्रीडायें अनन्त हैं। वह अपने भक्तों के साथ 'व्यापि-वैकुण्ठ' में लीलायें करते हैं अतएव कृष्ण परमानन्द हैं। उन्हीं की आज्ञा के अनुसार उनका सत् अंश, आनन्द अंश पर विजय

प्राप्त करलेता है और इस प्रकार उस अक्षर ब्रह्म का रूप धारण कर वह सब कारणों का कारण और सृष्टि का रचयिता होता है। अभी यह व्यवस्था सगुण और निगुर्ण ब्रह्म दोनों से पूर्ण है। वह अक्षर ब्रह्म के दो भेद मानते है।

(i) वह जिसको भक्त लोग पुरुषोत्तम मानते है और जिसमें व्यापि-वैकुण्ठ के सब गुण पाये जाते है।

(ii) वह ब्रह्म जो ज्ञानमय मनुष्यों को सत्, चित्, आनन्द और निगुर्ण रूप में दिखाई देता है।

पुरुषोत्तम अपने अन्तरयामिन (*Inward controller*) रूप से अवतारित होते है। कृष्ण के सत्व गुण से विष्णु, रज से ब्रह्म और तप से शिव का प्रादुर्भाव होता है। जीव अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को तभी प्राप्त कर सकता है जब सत्, चित्, आनन्द का आविर्भाव और तिरोभाव दोनों मिट जाते है और यह बात केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही जिसे 'पुष्टि' कहते हैं प्राप्त हो सकती है। इसी अनुग्रह को प्राप्त करने के लिये वल्लभाचार्यजी ने एक विस्तृत उपासना-पद्धति भी चलाई जिसे 'पुष्टि-मार्ग' कहते है।

यों तो वल्लभाचार्यजी ने कई प्रकार की पुष्टि मानी है परन्तु उन सब में सब से श्रेष्ठ शुद्ध-पुष्टि-भक्ति है। यह भक्ति उन लोगों के लिए है जो केवल प्रेम द्वारा परमपुरुष के कीर्तन में अपने आपको संलग्न कर देते है। यह भक्ति परमपुरुष द्वारा स्वयं भक्त के हृदय में उत्पन्न होती है। इस शुद्ध-पुष्टि-भक्ति का आरंभ प्रेम से होता है और इस प्रेम की तीन अवस्थायें होती है :-

(१) प्रेम या अनुराग (*Love or liking*)
(२) आसक्ति (*Attachment*)

(३) व्यसन (*a haunting Passion*)

जिन लोगों में भक्ति इस दशा को पहुच जाती है वे सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सामुज्य चारों प्रकार की मुक्ति का तिरस्कार कर देते है और हरि की सेवा में ही रहना चाहते है। श्री भागवत का भी यह वचन है—

न किंचित साधवो धीरा भक्ता ह्य ेकांतिनो मम् ।
वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यम् पुनर्भवम् ॥

मेरे एकान्त भक्त धीर साधुजन कुछ नहीं चाहते मम प्रदत्त कैवल्य,और अपुनर्भव की भी कामना नहीं रखते।

व्यसन की इस दशा में पहुचकर भक्त प्रत्येक वस्तु में हरि का दर्शन करता है, उसे प्रत्येक वस्तु प्रेममय हो जाती है। ससार का आतरिक और वाह्यरूप उसे पुरुषोत्तम–मय दिखाई देता है, इसी भक्ति का अन्तिम परिणाम व्यापि-वैकुण्ठवासी कृष्ण से मिलन है। भक्त वहा जाकर पशु, पक्षी नदी आदि का रूप धारण कर कृष्ण की लीलाओं का आनन्द उठाता है।

भगवद्भक्तों ने इन्हीं लीलाओं का आरोपण व्रज और वृन्दावन में किया है। भगवद्भक्त कवि व्रज में हुई लीलाओं का वर्णन इसी आशय को ध्यान में रख कर करते हैं। पाठकों को उनमे कुछ लौकिकता की गध आने लगती है परन्तु कवियो का ध्येय, व्यापि–वैकुण्ठ मे होने वाली कृष्ण की लीलाओं का वर्णन कर, भक्तो को प्रेम का आदेश करते हुए, शुद्ध–पुष्टि–भक्ति की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना है। सूर का वर्णन इसी भावना और इसी उद्देश्य से भरा है और इसी कारण वह बीच बीच में अपने आराध्य की अलौकिकता की ओर सकेत करते हैं। रासलीला आदि कृष्ण की लीलाये मथुरा के वृन्दावन की लीलाये हैं।

यहा तक तो हमने सक्षेप मे वल्लभाचार्यजी के सिद्धान्तो का ही वर्णन किया है, अब हम यह दिखाने का प्रयत्न करेगे कि सूरदासजी में ये भाव कहा तक पाये जाते हैं और किस समय में पाये जाते हैं!

यदि सूरदासजी का कोई प्रामाणिक जीवन-चरित्र मिलता तो इन बातों का निर्णय करने मे हमे बहुत सहायता मिलती परन्तु उसकी अनुपस्थिति मे हमे केवल उनके प्राप्त ग्रन्थो एवं अनेक किम्बदन्तियो का ही सहारा लेना पडता है !

साहित्य लहरी के ११० वे पद मे लिखा है कि सूरदास के ७ भाई थे जिनमे से ६ जो शाह के सेवक थे लड़ाई करके ब्रह्म-लोक को गये और सातवे सूरजचद थे जो कुएँ मे गिर पडे और जिनका सातवे दिन आकर स्वयं यदुपति ने उद्धार किया। सूर के दार्शनिक सिद्धान्तो के समझने में ये घटनाऐं बड़ी ही महत्वपूर्ण हैं। सूरदासजी के विनय वाले पदो से यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है।

परमात्मा का ध्यान करना मनुष्य के जीवन मे एक आवश्यक अङ्ग है। देखा जाता है कि जीवन मे ऐसी अनेक घटनाये होतीं हैं जिनके कारण हृदय में एक विरक्ति और वैराग्य का भाव उत्पन्न होता है। जीवन से विरक्ति होने के उपरान्त ही वैराग्य का भाव पैदा होता है और तभी कवि के हृदय से विनय के पद निकलते हैं। सूरदासजी को अपने भाइयो की असामयिक मृत्यु का करुणा पूर्ण दृश्य देखना पड़ा था। एक ओर अपने हृदय की प्रवृत्ति और दूसरी ओर यह वेदनापूर्ण घटना। सभव है इन दोनो ने सूर के हृदय को इतना प्रभावित किया हो कि उनकी काव्य प्रभा जाग उठी और उन्होंने अपने उद्गारो को विनय के रूप मे प्रकट कर अपने हृदय को हलका करना चाहा। वैराग्य की चरम सीमा पहुचकर मनुष्य परमात्मा के ध्यान मे ही अपने कल्याण की कल्पना करता है।

उसी के ध्यान मे उसे एक शाति मिलती है। इस प्रकार विनय में मिलने वाली शाति अथवा आनन्द का विकास इस प्रकार होता है-पहले मनुष्य को असतोष घेरता है और फिर ससार की अनित्यता और अपने को निस्सहाय देखकर वह अपने जीवन से निराश हो जाता है। परन्तु उद्योग करने पर सफलता प्राप्त हो ही जाती है। इसी के अनुसार कुछ दिनों के पश्चात् जब उसके मस्तिष्क की उत्तेजना कम हो जाती है, उसे कुछ धैर्य होने लगता है और सहसा आशा का टिमटिमाता हुआ धुंधला आलोक उसे दिखाई देने लगता है। उसको इससे भी सतोष नहीं होता और वह अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता ही चला जाता है। धीरे धीरे वह उस अवस्था तक पहुँच जाता है जब आदि शक्ति मे उसका विश्वास दृढ़ हो जाता है। इसी अवस्था मे आत्मा और परमात्मा के इसी दृढ सबध में उसे शान्ति मिलती है, उसे अनुभव होता है कि जिस वस्तु की खोज में वह इधर उधर मारा मारा फिर रहा है वह वास्तव मे उसी के पास उपस्थित है। सूरदास की विनय-पदावली को पढ़ने पर भी हम ठीक इसी परिणाम पर पहुँचते हैं। उनके मस्तिष्क का भी इसी प्रकार क्रम विकास हुआ और यह उनके पदों से स्पष्ट है-ससार की असारता, अपने आपको हीन और तुच्छ समझना, साधन होते हुए भी सफल न होना, आशाहीन मन की स्थिति, इसके पश्चात् निश्चयात्मक बुद्धि, फिर दृढ़ता और अन्त में आनन्द ये सब भाव सूर के निम्नलिखित पदों में पूर्ण रूप से व्यक्त हैः—

(१) जग मे जीवत ही को नातो।
मन बिछुरे तनु छार होइगो, कोऊ न बात पुछातो॥
'मै' 'मेरी' कबहु नहीं कीजै, कीजै पंच सुहातो।
विषय असक्त रहत निसि वासर, सुख सीरो दुख तातो।
साच झूंठि करि माया जोरी, आपुन रूखी खातो।
सूरदास कुछ थिर नहीं रहई, जो आयो सो जातो॥
i. ८०

विरक्ति

(ii) हरि हौं सब पतितन पतितेस ?
और न सर करिबे को दूजो, महामोह मम देश ॥
आसा के सिंहासन बैठ्यौ, दंभ छत्र सिर तान्यो।
अपजस अति नकीब कहि टेर्यो, सब सिर आप समान्यो ॥
सेवक तृस्ना भ्रमत रहलहित, रहत न छिन विस्राम।
अना चार सेवक सों मिलिकै, करत चबावन काम ॥
i. ८८

अनुराग

(iii) हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूंठी प्रपंच लागि, तन सो जनम गंवायो ॥
कंचन कलस विचित्र चित्र करि, रचि पचि भवन बनायो।
तामे ते तेहि छिन ही काढ्यो, पल भरि रहन न पायो ॥
ii–३०.

निराशा

(iv) दो मे एको तीन भई।
ना हरि भजे न गृह सुख पाये, वृथा बिहाय गई ॥
ठानी हुती और कछु मन मे, औरै अवनि ढई।
अविगत गति कछु समुझ परति नहीं, जो कछु करत दई ॥
कहा होत अबके पछताये, होनी सिर बितई।
सूरदास सेये न कृपानिधि, जो सुख सकल मई ॥

१–१६१.

आशा

(V) करि मन नंद नदन ध्यान
सेहु चरन सरोज शीतल तजि विषय रसापन ॥

जानु अंव त्रियंग सुन्दर, कलित कंचन दंड ।
काछनी कटि पीत पट द्युति, कमल केसर खंड ॥
1.-१८६

दृढ़ता

(vi) आजु हौ एक एक करि टरि हौं ।
के हम ही के तुमहीं माधव ! अपुन भरोसे लरि हौं ।
हौ तो पतित सात पीढ़िन को पतितै ह्वै निस्तरि हौं ।
अब हौ उघिरि नयन चाहत हौ तुम्हें विदद विनु करिहौं ॥
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायो हरि हीरा ।
सूर पतित तबहीं लै उठि है, जब हंसि देहौ बीरा ।

अनन्द

(vii) अपुन पौ अपुन ही पे पायो ।
सब्दहिं सब्द भयो उजियारो, सतगुरु भेद बतायो ॥
ज्यो कुरंग नाभि कस्तूरी ढूंढत फिरत भुलायो ।
फिर चेत्यो जब चेतन ह्वै करि, आपुन ही तनु छायो ।
सूरदास समुझे की यह गति, मन ही मन मुसुकायो ।
कहि न जाय या सुख की महिमा, ज्यो गूंगो गुर खायो ॥

सूरदासजी के विनय के पदो को पढने पर हमे कुछ विशेषतायें प्रतीत होती हैं—

(१) इन पदों मे प्रायः "हरि" का नाम आया है । यद्यपि माधव भी एक दो स्थान पर आया है परन्तु इससे हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि माधव नाम वाले पद कदाचित उस समय के हों जब वल्लभाचार्य्यजी द्वारा सूरदासजी दीक्षित हो चुके थे ।

(२) "हरि" के किसी विशेष रूप की आराधना अथवा उपासना सूरदास ने नहीं की है।

(३) सूरदासजी की परमात्मा के प्रति दास भाव की भक्ति है।

(४) सूरदासजी का अभिप्राय "हरि" से निर्गुण ब्रह्म से ही प्रतीत होता है। यद्यपि यह भाव स्पष्ट नहीं है।

मन की ऐसी ही परिस्थिति में सूर का वल्लभाचार्य्यजी से साक्षात्कार हुआ। आचार्य्य ने निर्गुण परम्परा वाली सारूप्य मुक्ति की अपेक्षा सायुज्य का चित्र सूर के सामने प्रस्तुत किया। जिस प्रकार वल्लभ की मुक्ति प्रेम के चरमानन्द की दशा है उसी प्रकार उनके उपास्य भी प्रेम मूर्ति कृष्ण हैं।

सूरदासजी के हृदय से नैराश्य की स्थिति निकल चुकी थी। भगवान एक सार वस्तु हैं, संसार को छोड़ कर उनकी उपासना आवश्यक है। यह भाव उनके हृदय में अंकुरित हो गया था। सूर के सामने प्रश्न यह था कि भगवान के किस रूप की पूजा की जाये? वेदान्त वाली निराकार उपासना की अपेक्षा भगवान के अवतारी रूप की कल्पना करना इन आचार्य्यों के लिए आसान था। अतएव परमत्मा के अनन्त शक्ति अथवा अन्य किसी रूप की अपेक्षा वल्लभाचार्य्यजी ने भगवान का एक नया रूप बाल-गोपाल सूर के सामने रक्खा। यह प्रेम का रूप था, अतएव आलबन के पूर्ण अथवा अपूर्ण होने की भी शंका की आवश्यकता न पड़ी। सूर के सामने भगवान का यह ऐसा रूप था जिसमें प्रेम के अतिरिक्त और कोई भावना न आ सके। सूर अपने इष्ट की प्रेम-पूर्ण छवि को देख कर आनन्द से नाच उठे। यह प्रेम का वही रूप था जो प्रातःकालीन सूर्य की रश्मि राशियो के समान जिस वस्तु पर पड़ता है उसको चमका देता है। जिस प्रेम में निष्ठुरता में ह्रास नहीं है.

अभिमान में अपमान नहीं है, अवस्थाओं में विपर्य्यय नहीं है, जो प्रेम प्रार्थना का पवित्र मंदिर है, पूजा की पवित्र मूर्ति है, सूर उसी प्रेम के रंग में सराबोर हो गये। अपने अस्तित्व को मिटा कर सूर अनन्त में लीन हो गये। तल्लीनता की इसी दशा में आकर सूर ने अपने इष्ट का कीर्तन आरंभ कर दिया। उन्हें अनुभव हुआ कि सारे तत्व, ब्रह्माण्ड, देव, माया, तृष्णा, प्रकृति पुरुष आदि सब के सब उनके आराध्य गोपाल के अंश हैं। मिश्री को छोड़ कर भला गुड़ किसे अच्छा लगता है? वल्लभाचार्य्यजी के उपदेश का उनके ऊपर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन सूर ने 'सूरसारावली' के एक पद में किया है:—

सदा एक रस एक अखंडित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत, विहरत युगल स्वरूप॥
सकल तत्व, ब्रह्माण्ड देव मुनि, माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥
कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन, सब ही भ्रम भरमायो।❀
श्री वल्लभ गुरु तत्व सुनायो, लीला भेद बतायो॥
ता दिन तें हरि लीला गाई, एक लच्छ पद बंद।
ताको सार 'सुर-सारावली,' गावत अति आनंद॥

इस पद में वल्लभाचार्य्य के द्वारा प्रतिपादित वैष्णव सिद्धान्त की पूरी छाप है। युगल स्वरूप राधा और कृष्ण सदा विहार करते रहते हैं। उनकी क्रीडायें अनन्त हैं, ब्रह्म माया आदि उन्हीं के आश्रित हैं, यह सिद्धान्त जैसा ऊपर लिख चुके है वल्लभाचार्य्यजी के थे। हमें सूर में भी

❀ प्रकट होता है कि सूर कर्मयोग, ज्ञानयोग और उपासना अर्थात् भक्ति-योग तीनों का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने पर वल्लभाचार्य्यजी से दीक्षित हुए थे।

उन्हीं का आभास मिलता है। कृष्ण के साथ मे राधा का नाम क्यों आता है? इस प्रश्न का उत्तर हम आगे चल कर देंगे।

सूरदास जी के पदो को पढ कर प्रतीत होता है कि उन्होंने वल्लभाचार्य द्वारा चित्रित बाल-गोपाल के रूप को अंध-विश्वास की तरह ही ग्रहण नहीं कर लिया। उनके मस्तिष्क में बहुत कुछ तर्क वितर्क हुआ और अन्त मे यह देख कर और सोच कर कि निर्गुण रूप की उपासना करना कठिन है, उन्होंने भगवान् के साकार रूप की लीलाओं का वर्णन किया। सूर कहते हैं —

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अतर्गत ही भावै।
परम स्वादु सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन वाणी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
रूप रेखगुन जाति जुगति बिनु निरालंब मन चक्रत धावै।
सब विधि अगम विचारहिं,ताते, सूर सगुन लीलापद गावै॥

सूरदासजी निराकार ब्रह्म की सत्ता को झूंठ नहीं मानते परन्तु जैसा अंतिम पंक्ति से प्रगट है, सब प्रकार विचार करने के अनन्तर वह इसी निष्कर्ष तक पहुचते है कि ब्रह्म अगम्य है, उस तक गति होना कठिन है इस लिए सगुण ब्रह्म की लीला के पद गाना ही युक्तियुक्त है। इस लीला का अभिप्राय वल्लभाचार्य द्वारा कथित व्यापि वैकुंठ की लीला से है किसी लौकिक लीला से नहीं।

सूरदास जी ने व्यापि वैकुंठ वाली भावना की ओर कई स्थानो पर संकेत किया है। उदाहरणार्थ कुछ पद नीचे दिये जाते हैं।

(मुक्त जीव)

(१) चलि सखि तिहि सरोवर जाहि।

जिहिं सरोवर कमल कमला, रवि विना बिकसाहिं ॥
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं ।
मुक्ति मुक्ता अंबु के फल, तिन्हें चुनि चुनि खाहिं ॥
अतिहि मगन महा मधुर रस, रसना मध्य समाहिं ।
पद्मवास सुगंध सीतल, लेत पाप नसाहिं ॥
सदा प्रफुलित रहैं जल बिनु, निमिष नहीं कुम्हलाहिं ।
देखि नीर जो छिलछिलो अति, समुझि कछू मन माहिं ॥
सघन गुंजत बैठि उन पर, भौंरे हैं बिरमाहिं ।
सूर क्यों नहिं चलो उड़ि तहं, बहुरि उड़िबो नाहिं ॥

[चित्त-बुद्धि संवाद]

(ii) सुआ ! चलि वा बन को रस लीजै ।
जामन कृष्ण नाम अमरत रस, श्रवन पात्र भरि पीजै ।
को तेरो पुत्र ? पिता तू काको ? मिथ्या भ्रम जग केरो ।
काल पजार लै जै है तोकों तू कहै "मेरो" "मेरो" ॥

(iii) सीत उष्ण सुख दुख नहिं मोने, हानि भए कछु सोच न राचै ।
जाय समाय सूर वा निधि मे बहुरि न उलटि जगत में नाचै ।

(iv) हम तो कान्ह केलि की भूखी ।
कैसे निरगुन सुनहिं तिहारो विरहिनि विरह विदूखी ॥

सूरदासजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे। निर्गुण उपासना की अपेक्षा सगुणोपासना में क्या विशेषता है, उसका क्या महत्त्व है ? इन प्रश्नों के उत्तर सूर ने अपने भ्रमगीत में गोपियों से दिलवा दिये हैं। उद्धव और गोपियों के बीच जो तर्क वितर्क इस विषय में हुआ है उसे वर्णन

करने से पूर्व हम यह कह देना उचित समझते है कि गोपियो के उत्तर में मस्तिष्क को चकित करने वाली कोई दलील नहीं है। सूर यहा पर भी दार्शनिक न होकर कवि हैं। उन्होने हृदय को वशीभूत करने वाली युक्तियो का ही सहारा लिया है, किसी सूक्ष्म तत्व की आलोचना नहीं की है। गोपियाँ बार बार दोहरा कर एक ही बात कहती हैं, कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य हृदयता का परिचय देती हैं, कभी ऊधो पर खीजती हैं, कभी झुंझलाती हैं। अपने प्रिय से सम्बंध रखने के कारण, प्रियतम की अनुपस्थिति में प्रेमी की क्या दशायें होती हैं, इन्ही का चित्रण सूर ने अपने भ्रमरगीत मे किया है। हम यहा पर सक्षेप मे उद्धव और गोपियों के बीच मे जो ब्रह्म की उपासना के विषय में विवाद हुआ था, उसका साराश देते है।

उद्धव निर्गुण का उपदेश देने के लिए ब्रज मे आये और कहने लगे "मै तुम्हें उसी योग का उपदेश देने आया हू जिसकी साधना साधु और मुनि करते हैं। तुम जिसके विरह मे व्याकुल हो वह तुम से दूर नहीं है, तुम्हारे ही अंतस्तल में उसका निवास है। वह अविनाशी और अविगत है, सारे संसार में छाया हुआ है। उसका कोई एक निर्दिष्ट रूप नहीं है। तुम अज्ञान वश सगुण को भगवान समझ बैठी हो। निर्गुण के ज्ञान के बिना भी कहीं मुक्ति हो सकती है? वेद और पुराण इसके साक्षी हैं अतएव अब सगुण का ध्यान छोड़ कर अपनी चित्त वृतियो को निर्गुण की ओर लगाओ। उस मे तुम्हें शांति मिलेगी और तुम्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी।"

परन्तु गोपिया उत्तर देती हैं—"ऊधो तुम हमें वृथा योग का उपदेश देते हो। मालूम होता है तुमने कभी वेद, पुराण, स्मृति नहीं पढ़ी, कहीं युवतियो के लिये भी योग साधना की शिक्षा है या वैसे ही सिखाते फिरते हो। मृग चर्म पहनने, भस्म रमाने, अधारी पर शरीर

टेकने और जटा बढ़ाने का कष्ट भला कौन उठावेगा ? और वह भी किसके लिये ? जो मिलना कठिन है, जो अगम है, अपार है, अगाध है। आसन, ध्यान, प्राणायाम आदि का खटराग कोन जमाना पसंद करेगा, माणिक को छोड़कर कहीं कोई राख का ढेर अपने कन्धे पर रखता है ? ऊधो ! तनिक सोचो तो सुरीली मुरली की ध्वनि सुनकर क्या कोई बजाने वाले को भूल सकता है ? जिनकी बाहों में अपनी बाहें डाल हमने अनेक खेल खेले उसी को तुम भुला देने का उपदेश करते हो। प्रेम रूपिणी गोपियों को योग-रूपी जहरीली बेल खिलाना क्या तुम्हें किसी प्रकार उचित है ? ऊधो ! हम तुम्हारे पांव पड़ती हैं, योग की कथा बार बार न कहो। जिन आंखों से हमने कमल-नयन देखा है उन्हीं को तुम मूंद लेने की शिक्षा देते हो—कहां रसरास कहां यह रूखा सूखा ज्ञानोपदेश ?" परन्तु जब उद्धव इतना कहने पर भी अपनी ज्ञान-चर्चा नहीं छोड़ते तो गोपियां कहने लगती हैं-'अच्छा ऊधोजी ! तनिक यह तो बताओ तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म कौन देश का वासी है, उसके माता पिता कौन है ? उसका कैसा वर्ण है, कैसा वेश है ?" उद्धव इसके उत्तर में कुछ नहीं कहते, यह देखकर गोपियां अपने पक्ष को सबल बनाती हुई कहती हैं-"जब उनका कोई रूप ही नहीं तो फिर उनकी पहिचान कैसी? निर्गुण ब्रह्म की सत्ता ऐसी है जैसे बिना तरंग का जल, बिना भींत का चित्र, बिना बुद्धि का चित्त। ऐसे निर्गुण से कहीं प्रेम का निर्वाह हो सकता है ? ऊधो जरा सोच कर देखो, हमने तो पहले से ही सन्यास ले रखा है। क्या तुमने हममें से किसी को अपनी वेणी गूंथते देखा है ? क्या तुमने किसी को सुन्दर वस्त्र धारण करते देखा है, हमतो एकाग्र चित्त से केवल एक ओर ही अपना ध्यान लगाये हैं, क्या यह योग नहीं है ? सब ओर से अपने चित्त की वृतियों को हटा कर एक ओर लगाना ही योग का मुख्य सिद्धान्त है, हम तो बहुत पहले से ही इसमें दीक्षित हो चुकी हैं।

सक्षेप मे इन्हीं दलीलो की नींव पर गोपियो के भक्तियोग का प्रासाद खड़ा किया गया है। सूर कवि थे, आचार्य्य या उपदेशक नहीं। अतएव उनके कथन मे भी कवि का ही हृदय प्रस्फुटित होगा किसी तर्करत का नहीं। केवल भावना का सहारा लेकर ही सूर ने वह धारा बहादी जिसका पान कर हजारो नरनारी अपने को धन्य समझने लगे।

सूरदासजी के काव्य को पढ कर हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं।

(१) राधा और कृष्ण के मिलन का धार्मिक महत्व क्या है ? अर्थात् वह वास्तव मे स्त्री और पुरुष का मिलन है अथवा आत्मा और परमात्मा का ?

(२) सूरदासजी ने वल्लभाचार्यजी के शिष्य होते हुए भी बालगोपाल के अतिरिक्त राधा का वर्णन क्यो किया ?

हम सक्षेप मे इन दोनो प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयास करते हैं।

आदि से अन्त तक सूरसागर को पढने पर पाठक की यही धारणा होती है कि लौकिक दृष्टि से राधा और कृष्ण का मिलन स्त्री और पुरुष का मिलाप है परन्तु इस सकुचित भाव को दूर कर देने पर हम इस ईश्वरोन्मुख रूपक की जड तक पहुच जाते है। कृष्ण की मुरली का स्वर अन्तरात्मा मे प्रतिध्वनित होने वाले नाद का स्थूल आभास है जो उसे अपने स्वामी की ओर खीचता है। कृष्ण परमात्मा है, राधा प्रधान आत्मा है और गोपिया अन्य आत्माये हैं। अपने अपने कर्म और सस्कारो के अनुसार यह नाद प्रत्येक व्यक्ति के हृदय मे सुनाई देता है। वास्तव मे जब परमात्मा के प्रति एक दृढ अनुराग उत्पन्न हो जाता है तो ससार की लज्जा न जाने क्या कुछ कर जाती है। ठीक यही दशा

मुरली का शब्द सुनकर गोपियों की भी होती है। कृष्ण उनकी परीक्षा लेते हैं, परन्तु लगन में दृढता देख कर अन्त में विवश हो जाते हैं। आत्मा अपने अंश मे मिलकर समागम आनन्द उठाती है। सूरदासजी ने काव्य के रूप मे इसी भाव का वर्णन किया है। सूरसागर के वातावरण में यह बात ठीक ठीक मालूम हो जाती है। आत्मा, परमात्मा से मिलने पर किस प्रकार एकसी हो जाती है, वल्लभाचार्य की उसी सायुज्य मुक्ति का वर्णन सूर ने इस प्रकार किया है:—

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जो गई।
माधव राधा के रंग राचे, राधा माधव रंग रई।
माधो राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई॥
बिहंसी कह्यो हम तुम नहि अन्तर यह कहि ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव ब्रज विहार नित नई नई॥

दूसरा प्रश्न है सूरदासजी ने राधा का वर्णन कृष्ण के साथ साथ क्यों किया?

यह सत्य है कि वल्लभाचार्य के द्वारा प्रतिपादित पुष्टि मार्ग मे राधा का कोई स्थान नही है परन्तु सूरदासजी अपने आपको राधा के प्रभाव से वंचित न रख सके इसके कारण कई थे।

(१) सूरदासजी कवि थे और भक्त कवि थे। इन्होने अपने आराध्य का गुण गान करने के लिए प्रबन्ध-काव्य की शैली को छोड़कर गीति-काव्य वाली शैली का अनुकरण किया। गीति-काव्य की परपरा सस्कृत मे जयदेव और हिन्दी मे विद्यापति से चली आती थी। इन दोनों कवियो ने कृष्ण के साथ साथ राधा का भी वर्णन किया है। अतएव सूर के ऊपर इनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। लौकिक दृष्टि से

भी जो प्रेम स्त्री और पुरुष में हो सकता है वह किसी और में नहीं। अतएव अपने रूपक को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए सूर को राधा या गोपियों की अवतारणा करना अनिवार्य था।

(२) सूरदासजी का वल्लभाचार्य से बहुत कम सम्पर्क रहा। वल्लभाचार्य के समय में कृष्ण के साथ साथ राधा का प्रादुर्भाव न हुआ हो, परन्तु उनकी मृत्यु के पीछे यह भाव भी अवश्य आ गया था, कदाचित् इसी कारण सूर ने राधा कृष्ण का वर्णन किया है।

(३) सूर श्रीनाथजी के उपासक थे। श्रीनाथजी के रूप में केवल बाल रूप का ही भाव नहीं है। इस रूप से कृष्ण की लीलाओं का भी संबंध है। अतएव लीलाओं के साथ साथ राधा के बाह्य रूप का भी उल्लेख होना अनिवार्य है।

(४) गोकुल में श्री नवनीत प्रियाजी का मंदिर था। सूरदासजी गोवर्धन पर रहते थे जो गोकुल से अधिक दूर नहीं है। अतएव संभव है कि इस वर्ग वालों का प्रभाव सूर के ऊपर पड़ा हो।

(५) वृन्दावन में निम्बार्क का मन्दिर था, निम्बार्क के मत में राधा को प्रधान स्थान दिया गया है। कवि की कल्पना को उत्तेजित करने के लिये ऐसे साधन कितने उपयोगी होते हैं यह किसी से छिपा नहीं है।

रासलीला का वर्णन करने से पहले सूर भी कृष्ण और राधा का नाम अलग अलग लिया करते थे। परन्तु उस दिन के पश्चात् तो उन्हें युगल रूप ऐसा अच्छा लगा कि उन्होंने एक पद में लिखमारा था —

मैं कैसे रस रासहि गाऊं।

अन्य देव सपनेहुन जानौ दम्पति को शिर नाऊँ।
भजन प्रताप शरन महिमाते गुरु की कृपा दिखाऊँ ॥
नवनिकुंज बन धाम निकट इक आनंद कुटी रचाऊँ।
सूर कई बिनतो करि बिनवै जन्म जन्म यह ध्याऊँ ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर केवल तनिक सी बात में वल्लभाचार्य्य के सिद्धान्तो से आगे बढ गये है। चाहे जो कुछ भी हो परन्तु सूर ने राधा कृष्ण के रूप की गंगा जमनी मे अपनी अनन्य भक्ति की जो नाव प्रेम की पतवार से चलाई थी वह उन्हे भवसागर के पार ले गई, इसमे कुछ भी संदेह नहीं है।

—: प्रकृति का काव्यमय व्यक्तित्व :—

प्रभात में देखते है-पूरब से प्रकाश का एक गोला निकलता है, चिड़ियाँ चहचहा उठती हैं कृषक हल जोतने लगता है। फिर! पश्चिम में वह गोला धीरे-धीरे डूब जाता है, अंधेरा हो जाता है, चिड़ियाँ बसेरो मे लौट पड़ती हैं, कृषक बैलो को साथ लिये हलों को कधे पर रखे हुए अपनी-अपनी झोपड़ीयो को चल देते है।

यदि किसी रचना में इतनी ही बात लिख दी जाय तो वह कविता नहीं, कोरी तुकबंदी बन जाएगी। कविता और तुकबदी में अन्तर यह है कि हम संसार में जो कुछ देखते हैं, तुक बंदी उसका वर्णन भूगोल की तरह कर देती है। इस तरह का वर्णन तो स्कूल के मास्टर साहब भी भली भाती कर सकते हैं, तो क्या वे भी कवि कहलाएंगे? नही, कवि तो उसे कहते हैं जो कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु को अपनी ही तरह सुख दुःख पूर्ण समझे, अपनी ही तरह उनमें भी हास और अश्रु देखे; अपनी ही तरह सृष्टि की प्रत्येक लीला में जीवन का अनुभव करे, क्योंकि सब में एक ही परम चेतन (परमात्मा) की ज्योति छिपी हुई है। वही परमचेतन इस सृष्टि का नियन्ता है, यह सृष्टि ही उसकी कविता है। हमारे यहा उस परम चेतन के लिए कहा गया है—

कविर्मनीषीपरिभूः स्वयंभूः

अर्थात् वही मनीषी, व्यापक, स्वयभू और कवि है।

हमारा कवि, संसार मे उसी कवि मनीषी का प्रतिनिधि है इसीलिए वह जड चेतन मे छिपी हुई उस एक ही परमचेतन की ज्योति को पहचान कर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति को पहचान कर उसके साथ अपनी आत्मा की ज्योति का सम्मिलन करा देता है। तब उसे यह सारा ससार एक ही प्रकाश में चमकता हुआ दिखाई पड़ता है।

कमल की पंखुड़ियो की तरह भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हुए भी, वह इस सम्पूर्ण विश्व को सच्चिदानन्द-पद्मरूप मे एक ही परिपूर्ण शतदल की तरह खिला हुआ देखता है। वह जब प्रभात मे बालारुण को उदय होते हुए देखता है तब उसे ऐसा जान पड़ता है, मानों वह भी उसी की तरह धीरे-धीरे उदित हो रहा है।

जैसे प्रभात मे जग कर हम अपने अपने कर्म्म-पथ पर चल पड़ते हैं, उसी भांति सूर्य्य भी सुनहले रथ पर बैठ कर अपने कर्म क्षेत्र की ओर बढा जा रहा है।

कवि को भूगोल और खगोल मे कोई भिन्नता नहीं दिखाइ पड़ती। दोनो ही स्थानो मे वह एक ही जीवन-चक्र को घूमते हुए देखता है, उसे ऐसा जान पड़ता है कि एक ही सूत्र-धार (परमात्मा) की उंगलियो के संकेत पर प्रकृति भिन्न-भिन्न पात्रों द्वारा एकही महानाटक खेल रही है। इसी द्रष्टिसे, कवि जब किसी उपवन मे एक खिले हुए गुलाब को देखता है, तो वह साधारण लोगों की तरह केवल यह नहीं देखता कि वह एक फूलमात्र है, बल्कि, वह तो उस प्यारे फूल को भी हमारी तुम्हारी तरह ही एक सजीव प्राणी समझता है। जैसे हम अपनी मा की कोमल स्नेह-गोद मे हँसते खेलते हैं, वैसे ही वह भी प्रकृति की सरल गोद मे हँसता-खेलता और लहराता है। उसका सैलानी साथी पवन, उसे दूर-दूर के देशो की अनोखी-अनोखी बाते सुनाता है, जिन्हे सुनकर कभी तो वह विस्मित और स्तब्ध हो जाता है और कभी आनन्द से विह्वल होकर थिरकने लगता है।

तुम कहोगे—भला यह कैसे सम्भव है? हमारी जैसी वहा चेतना कहाँ?

इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये हम लोग मुनिया (मुन्नी) के पास चलें। वह देखो, अपनी गुड़ियो के साथ इस तरह हिलमिल कर खेल रही है, किस तरह घुलमिल कर हंस बोल रही है।

रात में जब लोग सोने लगते है, तो मुनिया भी अपनी प्यारी गुड़िया को दूध-भात खिला कर सुला देती है और अपने नन्हे-नन्हे हाथों से कोमल-कोमल थपकिया दे-दे कर कहती है—'छोजा, मेली मुनी, छोजा!'

आओ, हम मुनिया से पूछे तो सही—बहिन, तुम्हारी गुडिया तो बोलती ही नही, फिर तुम कैसे उस से बाते करती हो?

लो, वह तो हमारी जिज्ञासा सुन कर बडे आश्चर्य से हमारी ओर देखने लगी। उसे तो विश्वास ही नहीं होता कि उसकी प्यारी गुडिया उसी की तरह सजीव नहीं। जैसे वह अपनी मा की मुनिया है, वैसे ही उसकी प्यारी गुडिया भी तो उसकी मुनिया है।

बात यह है कि मुनिया ने अपने प्राणों को गुड़िया में भी ढाल दिया है, इसी लिये वह न बोलते हुए भी मुनिया से बाते करती है। मुनिया उस बात-चीत को समझती है, क्योंकि उसी ने तो उसमें प्राण डाला है। इसी तरह कवि भी, पुष्पों में, वृक्षों में, लहरों में, तारो में, सूर्य में, शशि में, सब में अपने प्राणों को ढाल देता है और वे सब के सब उसके लिये उसी की तरह सजीव हो उठते है। जैसे पारस पत्थर लोहे को सोना कर देता है, वैसे ही कवि की सजीवता जड़ को भी चेतन कर देती है।

आखिर नई सृष्टि और इस नई भाषा का उद्देश्य?—इसके उत्तर में मै पूछता हू—भाई जिस मुहल्ले में तुम रहते हो, वहा यदि तुम्हारे बहुत से गहरे साथी बन जाएँ तो तुम्हें क्या खुशी न होगी? उन अभिन्न साथियो के बीच हँसते खेलते, बात की बात में दिन ऐसे बीतते जाऍगे कि तुम प्रति दिन अपने जीवन को बहुत-बहुत प्यार करने लगोगे। तुम चाहोगे अहा, एक-एक दिन हजार हजार वर्षों जैसे

लम्बे हो जाएँ। इसी लिये और इसी भांति, कवि भी सम्पूर्ण सृष्टि के साथ मित्रता जोड़ लेना चाहता है—सब के साथ वह हँसता बोलता है, सब के साथ वह रोता गाता है।

बन्धु, जब तुम हँसते हो, तब तुम्हारा साथी भी हँसता है। जब तुम रोते हो, तब तुम्हारा साथी भी रोने लगता है। तुम्हारे सब साथी तुम्हारी सजीवता के कारण तुम्हारे हँसने-रोने की प्रतिध्वनि देते हैं। यदि तुम निर्जीव होते तो उनके भीतर से प्रतिध्वनि नहीं निकलती (तुम सजीव प्राणी हो, इसी लिए जंगल का सुनसान सन्नाटा भी तुम्हारी बातों की प्रतिध्वनि देता है।) इसी तरह, कवि भी सृष्टि की जिन-जिन जड़-चेतन वस्तुओं से अपनी मित्रता जोड़ता है, वे सब उसी की सजीवता से सुस्पन्दित होकर, उसके ही हृदय की प्रतिध्वनि सुनाते हैं एवं उसके ही-जैसे सहृदय बन जाते हैं।

इसी मित्रता के कारण कवि, प्रकृति की प्रत्येक दिशा में अपने ही जैसे जीवन की झलक देखता है। सृष्टि की मूक वस्तुओं को भी अपने ही जैसा हिलता-डुलता प्राणी समझता है। क्या यह कोई अच्छी बात नहीं है?

हाँ तो, कवि अखिल सृष्टि के साथ जितनी ही अधिक आत्मीयता जोड़ता है, उसकी कविता उतनी ही सुख-शान्ति-पूर्ण एवं आध्यात्मिक बन जाती है। हम भरत-खंड के निवासी हैं, हमारे कुछ अपने कवित्वपूर्ण विश्वास हैं, उन्हीं विश्वासों के कारण हमने आसेतुहिमाचल, प्रकृति के अंचल में ही अपने तीर्थस्थल बनाये हैं। हमें वहा शीतलता मिलती है, शान्ति मिलती है, सान्त्वना मिलती है; यमुना हमें प्रीति प्रदान करती है, गंगा हमें भक्तिदान करती है।

प्रकृति के मुकाबिले आज स्वार्थों को जो प्रधानता मिल गई है,

और मनुष्य प्रकृति से विच्छिन्न होकर नगर नगर में जो मिल और फैक्ट्रीया खोलता जा रहा है, इसका कारण है विज्ञानवाद। विज्ञान को प्रकृति-विजयी होने का दावा है, इसीलिये राष्ट्र रक्षा के नाम पर वह जंगल का जंगल काटकर उन्हे लड़ाई का मैदान भी बना सकता है और मनुष्य के नाम पर मनुष्य के ही रक्त से पृथ्वी को सींच कर अन्तर्राष्ट्रीय शत्रुता का कंटीला झाड भी उगा सकता है। इस प्रकार प्रकृति ही नहीं, मनुष्य भी पदार्थ होता जा रहा है, प्रधान हो गया है यन्त्रवाद। यहा तक कि मनुष्य भी यन्त्रों के बनने लगे हैं। कवि जब प्रकृति के साथ आत्मीयता जोडने लगता है, तब वह इसी यन्त्रवाद के प्रतिकूल मानो मानवी चेतना को अग्रसर करता है।

काव्य-जगत् मे प्रकृति भी हमारी पारिवारिक है, हमारी वाटिका के खग-मृग, पुष्प-भवन और छाया-प्रकाश के निखिल रूपमें। मनुष्य के जीवन मे काव्य है, संगीत है, सौन्दर्य्य है। प्रकृति में भी यह सब कुछ है इसीलिये विश्व जीवन के साथ उसका ऐक्य है, पारिवारिक सौख्य है। कवि पन्त ने श्रमजीवी मानव को प्रकृति के सान्निध्य में जिस चित्र चारुता से उपस्थित किया है, वह इस यन्त्रवादी जड़युग में मनुष्य और प्रकृति के स्नेह-सहयोग का सहज स्वाभाविक निदर्शन है।

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झूटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी-टी-टुट्-टुट्।

वे ढाल-ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर
गा गीत स्नेह-वेदना-सने

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी डगमग डग,
भारी है जीवन भारी पग !!

आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग,
सन्ध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग,
औ, गन्ध-पवन झलमन्द व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली है जिनकी रग-रग !
'युगान्त'

यों ही अनेक प्रकार से—

यह लौकिक औ, प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला,
आरहा,—सृष्टि के साथ पला !

इसे संसार का कोई भी रियलिज्म, कोई भी विज्ञान मिटा नहीं सकता, जबतक पृथ्वी पर कवि नामक प्राणी शेष है।

कविवर रवीन्द्रनाथ के शब्दो में काव्य पढने के समय भी यदि हिसाब का खाता आगे खोलकर रखना पड़ता हो और वसूल क्या हुआ इस बात का निश्चय उसी समय कर लिया जाता हो तो मै यह स्वीकार करूँगा कि मेघदूत, से एक तथ्य पाकर हम आनन्दित हुए हैं। वह यह कि उस समय भी मनुष्य थे और उस समय भी आषाढ का प्रथम दिन नियिमत समय पर आता था।

जड की बात

उस रोज देखा कि सड़क के किनारे धूप में एक आदमी पड़ा हुआ है। हड्डियों का ढाँचा रह गया है और मिनटों का महमान है। चलती सड़क, काफी लोग आ-जा रहे थे। वे उसकी तरफ देखते और बढ़ जाते थे। मैंने भी उसकी तरफ देखा और बढ़ गया।

उस दृश्य पर आने से कुछ पहले मैंने देखा कि एक मोटर चलते-चलते रुकी। उसमें से दो व्यक्ति उतरे और नीचे कुछ देखते हुए पीछे की ओर चले। आखिर कुछ दूर चलने पर एक रुपया उन्हें पड़ा हुआ मिला। वह शायद उन्हें मोटर से जाते हुए दीखा होगा। उसके लिये ही वे मोटर से उतरे थे।

कल्पना कीजिये की उस आदमी की जगह तांबे का एक पैसा पड़ा हुआ होता, तो क्या उसे पड़ा रहने दिया जाता? लखपती भी होता तो शायद उसे देखते ही उठा लेता। रुपये की तरफ उन मोटर वालों की सावधानता देखी ही जा चुकी है। इसी तरह धन का प्रतिनिधि एक भी सिक्का कहीं पड़ा हो, तो किसी के देखने की देर है कि वह धूल से उठाकर छाती के पास की जेब में रख लिया जायगा।

लेकिन आदमी की दूसरी बात है। आदमी मरने के लिये आदमी की ओर से छुट्टी पागया है। कारण, पैसे की कीमत है। आदमी की कीमत नहीं है।

दया आदि की बात छोड़िये। किसी को फुर्सत क्यों कि दया में पड़े? दया का दावा नहीं हो सकता। मरजी है कि दयावान दया करे। मरजी नहीं है तो दया न करने के लिये किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। अर्थात् यह प्रश्न नहीं है कि दया आदमी में क्यों नहीं रही। आप

मानते हैं कि किसी के दिल मे दया होती तो वह उस अधमरे आदमी का कुछ उपचार करता। पर मुझे उससे कुछ संतोष नहीं है। उस आदमी के उपचार के लिये दयावान व्यक्ति की जरूरत हो और हममें से हर कोई उस तरह के उपचार में सचेष्ट न हो यह स्थिति मेरी चिन्ता का विषय है। उस स्थिति में जरूर कोई बड़ा दोष है। दयालु होने के कारण ही मैं उस गरीब के काम आ सकता हू, समझदारी के कारण नहीं, आज का यही हाल है। उस गरीब को बचाकर क्या होगा? सैकडों हजारों मरते हैं, अजी छोडो अपना काम देखो। इस फेर में लगोगे इतने कुछ और कमाई का काम ही न करलो। यह आदमी मर जायगा तो किसी का क्या नुकसान होगा? इससे समझदारी यह है कि दया मे न पड़ा जाय।

यह सच ही है और मै इससे सहमत हूँ। जहा दया और समझ का विरोध हो वहाँ मै समझ के पक्ष मे हूँ। दया कच्ची भावुकता है। समझदारी वह जमीन है कि जहा पैर टिकता है। हम नहीं मान सकते कि हर कोई दयावान हो। पर समझदार हर किसी को होना चाहिये। दया में गिरकर लोग फकीर होगये हैं। घर-घाट के नहीं रह गये, बारह बाट ही होगये हैं। कोई भला ऐसे बना है? सब बिगडे ही हैं। महापुरुषता का लक्षण गहराई से देखें तो दया से अधिक अदया (निस्पृहा) है। दया वह उतनी ही पालते हैं जितनी समझदारी में निभती है।

मै अन्तःकरण की सचाई से कहता हू कि दया की प्रेरणा मुझे सच्ची प्रेरणा नहीं मालूम होती। और अगर उस भूखे कंकाल इन्सान के वहीं सड़क की धूल मे पडे रहने के कारण सिर्फ इतना होता कि आदमी में दया नहीं रह गई तो मुझे यह लेख लिखने की प्रवृत्ति न होती। पर आज तो मुझे इसी पर विस्मय है कि समझदारी हमें यह

समझाती मालूम होती है कि हमें जिन्दा आदमियों को उस मरते हुए प्राणी के झंझट में नहीं पड़ना चाहिये। समझदार वेशक दयालु नहीं हो सकता। उसे दयालु नहीं होना चाहिये। दया का मतलब अहसान भी होता है। वेशक अहसान झूठ है। इससे दया भी झूठ है। पर समझ को तो समझदार होना चाहिये और आज का समझदार आदमी अगर अपनी राह चलता चला जाता है और मरने वाले को सड़क किनारे पड़ा रहने देता है तो जरूर कोई बहुत बड़ी खराबी है। उस खराबी का नाम दया की कमी नहीं क्योंकि दया की कमी को अथवा उसके अभाव को हम खराबी नहीं कह सकते। वह क्षम्य बात है। एक तरह से वह उचित बात है। नहीं, उससे कोई बहुत बड़ी खराबी मैं मानता हूं। और उसी खराबी को पाना चाहता हूं।

पड़ा पैसा धूल में से हर कोई उठा लेता है। बच्चे को भी कहना नहीं पड़ता, धूल झाड़ कर वह उसे जेब में रखता है। जरूरत नहीं कि हम समझायें—'देखो बेटा, पैसा मिले तो उस पर दया करना, उस बिचारे को धूल में पड़ा मत रहने देना।' यह सब जरूरत इसलिये नहीं रहती कि पैसे से उसका हित जुड़ गया है। इसलिए एकदम स्वाभाविक है कि पैसा दीखे और उसे उठा लिया जाय।

क्या सांस लेता आदमी तांबे के एक पैसे से भी कम कीमती है? मैं चाहता हूं कि विज्ञानवेत्ता से पूछकर बता सकूं कि मरे आदमी तक में से कितना फास फोरस और कितना क्या क्या मिल सकता है। फिर मरे और जीते की तो तुलना क्या, चेतन आदमी में अगणित संभावनायें हैं। आत्मा में क्या नहीं है? इस तरह जब कि मुरदा आदमी भी जाने कितने अनगिनती पैसों से ज्यादा कीमती है, तब जीते इन्सान का तो पूछना क्या? पर आखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है, इन्सान को छोड़ दिया जाता है। उसकी कीमत पैसे की नहीं है। मैं

जानना चाहता हूं कि यह अनर्थ कैसे होने में आया ? क्यों यह जरूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढ़ता है वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ हमारा प्रेम का हाथ बढे ? क्यों यह जरूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तब तक उस ओर से अपने को अछूता बनाये रक्खे ? क्यों नहीं यह आदमी के स्वार्थ में शामिल हो कि वह दूसरे की मदद करे ? उसे दूसरे की मदद ही क्यों समझा जाय ? पैसे को उठाते है तो यह हम अपनी मदद करते हैं। लेकिन अंग्रेजी में भी 'I help myself to it' यह वाक्य प्रयोग इन्सान के बारे में नहीं होता। वह मदद दूसरे की है इसलिये दयाभाव से ही की जा सकती है—यह बेवकूफी हम मे क्यों घर कर रही है। अगर पैसे को धूल मे से उठाकर जेब मे रखना उस पर उपकार करना नहीं है तो रोगी को सड़क पर से उठाकर अस्पताल में रखने मे भी उपकार की कहा आवश्यकता आ जाती है ? मैं मानता हू कि जब तक उपकार और दया की आवश्यकता ऐसे कामो मे मानी जायगी अर्थात् जब तक उन्हे शुद्ध लौकिक हित और समझदारी का काम नहीं माना जायगा तब तक हमारी समस्या हल नहीं होगी। यह हम मे से हर एक के लिए स्वाभाविक होना चाहिये कि हम मृतप्राय को जीवनोन्मुख करे। एक आदमी जाता है तो क्या इससे मनुष्य जाति की पूंजी कम नहीं होती ?

कहा जायगा कि मृत्यु है और रहेगी। मै मानता हू कि उसे रहना चाहिये। मै आदमी की अमरता मे विश्वास नहीं करता क्योंकि आत्मा की अमरता में विश्वास करता हू। इसलिये सचमुच इस बात पर मुझे दुःख नहीं है कि कोई मर जाता है। पर मरने वाला कैसे मरता है, यह विषय मुझे अतिशय चिंता का मालूम होता है। हमें हक नहीं है कि किसी को द्वेष मे घृणा, क्रोध, या निराशा से मरने दे। इससे मानव जाति का बंधन बढ़ता है। एक भी आदमी हमारी उपेक्षा पर, हमसे तिरस्कार पाकर मरता है, तो वही हमारे माथे पर कलंक का टीका

बनता है। सचमुच उस बिचारे सड़क के किनारे पड़े आदमी पर दया की जरूरत नहीं है वह तो मरकर छुट्टी पा जायगा, पर यह जो बड़े २ सरकारी दफ़्तर हैं और चुङ्गी दफ़्तर सभा, समाजे, समितियां और महलों में बसने वाले लोग और बोलने वाले नेता और लिखने वाले लेखक और छापने वाले अखबारी—उन सब पर तरस खाने की जरूरत जरूर है। वह जो सड़क पर पड़ा है खुद मे कुछ नहीं है। वह हम सब अहम्मन्यों की अहम्मन्यता की आलोचना है, मनुष्य पर व्यंग है। वह हमारी शर्म है। जितनी देर वह जिंदा लाश वहा पड़ी है उतना ही हमारा पाप बढ़ता है। उसके मरजाने से वह पाप कायम होता है।

मानव जाति की व्यवस्था के काम में करोड़ हा करोड़ रुपया एक जगह जमा होता है और उससे फौज और अस्त्र शस्त्र, किले, अदालत, दफ्तर, और सरकारें बनती हैं। वह शासन की सत्तायें सुव्यवस्था के लिए हैं। इस लिए है (यानी होनी चाहिये) कि सब आदमी जियें और एक दूसरे का भला चाहते हुए मरें। अर्थात् ये सत्तायें आदमियों के लिए हैं। सत्ता के लिए आदमी नहीं हैं। पर आज अंधेर है तो यही कि उस सत्ता की रक्षा के लिए आदमी के अस्तित्व को माना जाय। आदमी यहा इस लिए है कि वह मरे और सत्ता जिये। वह ईंधन हैं कि सत्ता वालों की रोटी पके। अर्थात् उनका प्रश्न नहीं है जिनकी सुव्यवस्था के लिये सब कुछ है बल्कि मानों व्यवस्था (Law and order) ही वह देवी है जिसपर बलिदान होना व्यक्ति के व्यक्तित्व की सार्थकता है। सरकार ईश्वर है और आदमी उस महा प्रभु (सरकार) का सेवक होने के लिये है। फलतः सरकारी अमन सबकुछ है और आदमियों का मरना जीना कुछ नहीं। सुशासन के लिये आदमियों को मारा जा सकता है।

यहीं तो है बड़ी खराबी है। आदमी एक गिनती होगया है। वह आत्मा नहीं है, पवित्र नहीं है। उसमे अपने आप मे कोई कीमत नहीं

है। दफ्तर चल रहे हों और सरकार की मशीन चल रही हो। जब वह चीज ठीक चल रही है तब दो चार या सौ हजार आदमी भूखे और नंगे मर जायँ तो क्या हुआ? सुशासन की आरती तो अखंड चल रही है, उसका रिकार्ड दफ्तर में बराबर तैयार हो रहा है। यह जो आदमी सड़क के किनारे पड़े भिनकते हुए मर रहे हैं, यह तो अपने कर्मों का फल पा रहे हैं। बाकी हमारा बजट देखो, हमारी रिपोर्टें देखो, हमारे कारखाने मे चलकर उसका इंतजाम देखो तब तुम्हारी आंखें खुलेंगी, कि सभ्यता और उन्नति कहा पहुच गई है। उस घृणित और सड़ी लाश को क्या देखते हो।

हाँ, मै यही कहना चाहता हू। मै कहना चाहता हू कि कीमत असल को छोड़ गई और नकल पर जा चढ़ी है। आदमी का बचाना असल प्राण का बचाना है, इसीसे वह निष्फल है। और पैसे का बचाना यहा सफल है। आज की कीमतों की यही सबसे बड़ी आलोचना है। नहीं, सवाल है कि तुम्हारी छाती कितनी बड़ी है। सवाल है कि उसपर लटकी तुम्हारी जेब कितनी भरी है। अदर से छाती चाहे पिचकी हो, और क्षुद्र हो और उसमे और किसी के लिये समाई न हो पर उसको ढकने वाली जेब अगर गर्म है और चौड़ी है और मोटी है तो सब ठीक है। नहीं चाहा जाता आज कि तुममे मनुष्यता हो। उसकी जगह तुम्हारे पास धन की पेटी है तो अच्छा है। अर्थात् मूल्य आज हमारे उलटे हैं। हीरा आज फिक रहा है और कौडी को बटोरा जा रहा है। तभी तो देखते हैं कि पैसे पर हाथ लपकता है और आदमी पर लात चलती है।

ऊपर देखा, और वैज्ञानिक सत्य है कि मुरदा आदमी भी कीमत से खाली नहीं है। लोग मुरदी हड्डिया बटोरते और बाहर भेजते हैं। व्यवसायी उनमें से लाभ लेते और आविष्कार के तथ्य निकालते हैं। विवेकी के हाथ क्या चीज उपयोगी नहीं? विष्ठा भी बढ़ा खाद है और

कूड़े करकट में से कागज बनता है ; तो भी सड़क पर पड़े आदमी से सब आँख मोड़कर चले गये, जैसे उसको लेकर कोई लाभ का सौदा हो ही नहीं सकता।

मै कहना चाहता हूँ कि यह स्थिति सदोष है जहा आदमी को बचाना किसी भाति लाभ का सौदा नहीं हो, तभी तो हर कोई आदमी रह जाता वह लाभ का सौदा नहीं है। उस तरफ नहीं मुड़ता है। अगर हम चाहते हैं कि ऐसे दृश्य हमारे देखने में न आये तो कुछ ऐसा प्रबंध करना होगा कि भूखे को खाना, प्यासे को पानी और रोगी को उपचार देना हममें से हर एक के लिये लाभ का सौदा बन जाय, पुरानी कीमते तो बदल गई हैं क्योंकि ईश्वर बदल गया है। पहले ईश्वर भक्त-वत्सल था और दूसरे जन्म मे नेकी का इनाम मिल जाता था। इससे नेकी हर किसी के लिये लाभ का सौदा था। पर अब सिहासन पर सरकार है और स्वर्ग की जगह तरह तरह की सरकारी पदविया हैं। स्वर्ग नेकी से मिलता था पर राय बहादुरी धन से मिलती है। ईश्वर औरों की सेवा से खुश होता था सरकार अपनी सेवा से खुश होती है इसलिये पहले का लाभ का सौदा अब आकर टोटे का होगया है। इससे कोई उसके झंझट में नहीं पड़ता।

ओह। आप मोटर से उतरे हैं, आप राय साहब हैं, अजी आपके कपडे और शक्ल बतलाती है; आइये, आइये, धन्य भाग्य। तशरीफ लाइये। और तुम हटो, निकलो ! ये दागीले कपडे लेकर कहाँ घुसे चले आरहे हो ? क्या····? बीमार ! सड़क। ··· तो मैं क्या जानूं, उस गरीब को उठाने में कपडे मेरे खराब होंगे। बस, बस, बको मत, चलो हटो।

हमारा व्यवहार ऊपर के मानिन्द है और उससे देखा जा सकता है कि मनुष्य के लिये मनुष्यता लाभ का सौदा नहीं है बल्कि किसी कदर अमनुष्यता इस वक्त सौदा है।

क्या कहा ? आप नेकी की ओर उसके नेक फल की, और ईश्वर की और जगत् को भलाई की बात करते हैं ? आप भोले हैं। आप ख्वाब में कहते हैं। युग बुद्धिवाद का है और आप मे बुद्धि नहीं है। आप भावुक हैं। भावुकता के कारण आप सीधी उन्नति की सड़क पर से हटकर किसी सेवा वेवा के चक्कर में पड़ना चाहते है तो पड़िये। पर हम बताते हैं कि वह लाभ का सौदा नही है।

और मैं यही कहना चाहता हूँ कि जब तक हमारे मानसिक और सामाजिस मूल्य ऐसे नहीं हो जायंगे कि आदमी का लाभालाभ ही मनुष्यता के पैमाने मे नापा जाय, अर्थात् जब तक आदमी धन से नापा जायगा मन से नही, तब तक हमारी लज्जा और ग्लानि के दृश्य हमारी आँखो के सामने आते ही रहेगे।

वह आलीशान, म्युनिसिपैलिटी की इमारत खडी है। उसके चारों तरफ बगीचा है और पुलिस के संतरी हैं। लेकिन उसके बाद मरभूखों की भाँति अपने दारिद्र्य और अपने मैल को खोले पड़ी है। म्युनसिपैलिटी के महल के लिये क्या यह दृश्य कलंक का नहीं है ? और हम म्युनिसिपैलिटी के उस मैम्बर को सबसे ज्यादा चाहते हैं, जो सबसे अच्छे कपड़े पहनता और सबसे अच्छा बोलता है। नगर-पिता हम उसे बनाते है, जो सेवा की ख्वाहिश करता है कि सेवा का काम न करना पड़े।

पर सच तो यह है कि मनुष्य का लाभ मनुष्यता का लाभ ही है। इससे वह कुछ भी लाभ का सौदा नहीं है, जिससे मनुष्य की पूंजी लुटती है। इस बात से आख बचाकर जो लाभ के सौदे के फेर में पड़े हैं, वे अपने को भुलावा दे रहे हैं। वह दिन आनेवाला है कि हम देखेंगे संचित धन आदमी का गौरव नहीं वह आदमी का कोढ़ है। और मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि में नकब लगाकर

चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नहीं है। आज हम अपने लाभ को दूसरे के अलाभ में देखते हैं। हमारी जेब में जो आता है, वह दूसरे ही की जेब में से तो आता है। किसी को दरिद्र रखे या बनाये बिना हम मालदार रह या बन नहीं सकते। निपट दरिद्रता की तस्वीर से हम डरते हैं, तो अपनी धनाढ्यता की आकांक्षा से हमें डरना होगा। नहीं तो अपने ही रोग का दूसरा पहलू हमारी आँखों के आगे आने से बच नहीं सकता। धनी धन में बन्द नहीं हो सकता। और कितना भी बन्द रहे अपनी आत्मा के दैन्य के अनुभव से वह छूट नहीं सकता। आदमी लाचार है कि मरे और लाचार है कि जाने कि धन साथ नहीं जाता। इसी तरह वह लाचार है कि पाये कि धन बटोरना बखेड़ा ही बटोरना है और एक जगह धन इकट्ठा होना शरीर में खून के इकट्ठा होकर गिल्टी बनने के समान है।

तो भी, हम भ्रम को पोसते हैं। क्योंकि चारों ओर से उसकी सुविधा है। आस पास हमारे सबके मनों में सोने की छड़ी बस गई है। उससे आदमी को नापा जाता है हममें उस रोग का बीज है ही। पड़ोसी से अपने को बढ़ कर मान सकें, तभी हमें सुख मिलता है। अपने को घट कर मानने को लाचार हों, यही दुख का कारण है। बस इस तरह मेरे तेरे की तराजू में हम लटके रहते हैं। वह तराजू है ही राग द्वेष की। उसकी डंडी अहंकार के हाथ में है। उसके बाट सोने चांदी के हैं। और बस, उन्हीं बाटों पर अपना लाभालाभ तोलकर हम चला करते हैं। पर तराजू ही वह खोटी है क्योंकि मेरा तेरा ही गलत है। पड़ोसी से बड़ा बनकर जो सुख मैंने माना है, वह सुख मेरे हाथ में कहां, वह तो पड़ोसी की मुट्ठी में है। अपने को वह छोटा न माने तो मेरे बड़प्पन का सुख भी किर-किरा हो जाता है। इससे मेरा असल सुख तो पड़ोसी को दुखी बनाने में है। क्योंकि वह सुख मुझसे कोई छीन नहीं सकता। इस ढंग से देखने पर जो जितना लाभ का सौदा

मझा जाता है वह उतना ही नुकसान को हो जाता है। क्योंकि हंकार का फूलना आत्मा का क्षीण होना है। अभिमान आत्मा का त्रु ठहरा। धन अभिमान की गांठ है। धन की दुनिया में सबसे बड़ा त्य इज्जत है जो कि खुद झूठ है। इज्जत में तुलनात्मक भाव है। ारी नाक ऊंची होने का मतलब ही यह है कि वह दूसरे से ऊंची । संसार ऐसे ही चलता है पर मुक्ति ऐसे थोड़े ही मिलती है।

मैं मानता हूँ कि परस्पर की सहायता को भलाई की कोटि से उतार कर स्वभाव की कोटि तक हमें लाना होगा। भलाई मानो एक अतिरिक्त वस्तु है। मानो वह कोई उपकार है। यानी हम उस पर गर्व कर सकते हैं। पर, यह तो बड़ी भारी भूल है। मैं जानता हू कि अभिमान को जो उससे एक प्रकार की सेक मिलती है, उसके कारण बहुधा उपकार कर्म किया जाता है। इसी लिये मैं यह कहता भी हूँ कि भला करके दूसरे से ज्यादा हम अपना भला करते हैं इससे भलाई का श्रेय कैसा।

शुरू में मैंने यही बात उठाई थी कि भलाई जब तक हमसे दूर की वस्तु रहेगी, तब तक काम नहीं चलेगा। हममें से अपने को भला आदमी कहने को शायद ही कोई तैयार हो। पर समझदार अपने को सब मानते हैं। हम सब स्वार्थी हैं कि नहीं, अपना नफा नुकसान देखते हैं। हम सब समझदारी के समान हैं। मैं यही कहना चाहता था कि जिसको नेकी कहकर सामान्य से ऊंची कोटि दी जाती है, वह समझदारी (Common Sence) की बात होनी चाहिये। अर्थात् सामान्य बुद्धि की दृष्टि से नेकी का काम हमारे लिये लाभ का सौदा भी होना चाहिये।

यहाँ आकर मैं मानव समाज के व्यवस्थापकों को दोष देता हूँ। वे अपने इन प्रकृत मानवीय मूल्यों के विकास में सहायक नहीं हो रहे हैं वे जिस अंश में अपने को शासक नहीं मानते हैं और सेवक की भाँति

व्यवहार नहीं करते हैं, उतने ही अंश मे वे सदोष हैं। उतने ही अंश में वे झूठी कीमतों को मजबूत करते हैं और असली कीमतों को उभरने से रोकते हैं। वे इंसान को इंसान बनने की ओर प्रेरित नहीं करते बल्कि उसमें बड़ा बनने, ऊंचा और अमीर बनने की लालसा पैदा करते हैं।

मैं मानता हूं कि आदमी में आदमी के प्रति जो कुत्सा, ईर्षा, उपेक्षा और अवहेलना के भाव देखने मे आते हैं, वे मूलतः इसी अहं-प्रेरित जीवन नीति के पालन करने के कारण बनते हैं। सत्ता अधिकांश उसी पर खड़ी होती है। व्यक्तियों में अयाथार्थी की वृत्ति को मूल से नष्ट करने में शासन सत्ता का हित नहीं है। इसमें जनता के ऐक्य से उसे डर लगता है क्योंकि जनता का अनैक्य शासन का समर्थन है। शासन का मन्त्र है, भेद। फूट डालो और राज करो। जन समाज में श्रेणियां डालकर शासन चलाया जाता है ऊंच और नीच, अमीर और गरीब, इस तरह के भेद सत्ता के लिये बहुत जरूरी हैं। क्योंकि उस भेद के कारण सत्ता अनिवार्य बनती है। दो लड़ें तो बीच बचाव का काम हाथ में लेने के लिए तीसरा आ ही जाता है।

इसी से हितों की अनेकता पैदा करके शासन सत्ताएं मजबूत बनती हैं। सबको अपने-२ स्वार्थ की वृत्ति को गहरा करके मानव जाति के व्यवस्थापक अपनी कुर्सी को निश्चित बनाते हैं। पर यह भी निश्चित है कि इस तरह वे अपनी कुर्सी को कम्पित करते हैं। भेद पर बनी व्यवस्था टिकने वाली नहीं। आदमी के भीतर स्वार्थ है तो निस्वार्थता भी है। यानी स्वार्थी आदमी में ही यह प्रतीति निवास करती है कि दूसरे की हानि पर पलने वाला स्वार्थ मेरा सच्चा स्वार्थ नहीं है। सच्चा स्वार्थ मेरा ही वह है जो दूसरे के स्वार्थ के साथ अभिन्न है।

इस तरह यह हालत बहुत दिनों तक रहने वाली नहीं है कि लोग सड़क के किनारे पड़े जीते कंकाल को देखते हुए निकल जाय। जल्दी वह समय

आ जायगा कि जब अपने व्यवस्थापकों से हम पूछेंगे कि क्यों तुममे इतनी चूक हुई कि वह आदमी सडक पर पडा हुआ है ' तुम हुकूमत के लिए नहीं हो, व्यवस्था के लिए हो। तुमको हाथ का हुनर तो कोई आता नहीं था, तुमको और काम का न जानकर यह काम सौंपा गया है। पर तुममें यह पुराना नू अब तक मौजूद है कि तुम अपने को अफसर समझो और उसमें भूल जाओ। ध्यान रहे कि तुम सेवक हो, तुम मालिक के विश्वास को खो नहीं सकते। जो काम तुम्हें सौंपा गया है उसमें चूकते हो, तो जाओ, अपना रास्ता देखो।

आप सोचिये कि जब लडाई हो रही हो, तो बारूद को बरबाद करने वाला आदमी कितना गुनहगार है। ईश्वर की सृष्टि में हर आदमी बारूद के गोले के मानिंद है। उसे बरबाद होने दिया जा सकता है, उससे मौत का काम लिया जा सकता है, या उससे जिंदगी का काम लिया जा सकता है। मनुष्य जाति के व्यवस्थापकों का न्याय एक दिन इसी तराजू पर किया जायगा कि उन्होंने ईश्वर की पूजी का क्या बनाया? कितना खोया, कितना कमाया? आदमी आदमी मे जितनी एकता निस्वार्थता बढेगी, वह कमाई है। जितना उनमे अनैक्य और स्वार्थ बढेगा, वह हानि है। अन्त मे देखा जायगा कि आदमी का व्यवस्थापकों ने क्या उपयोग किया है? कितनों की सम्भावनायें नष्ट होने दी या प्रस्कुटित होने दी? कितनो को ईश्वर की समता में खेलने दिया? और कितनों को अवरुद्ध रखा। आदमी के अन्दर कितनी हिंसा (स्वार्थ) को पोषण दिया और कितनी उसमे अहिंसा (सेवा) की शक्ति को जगाया?

व्यक्ति एक शक्ति का पुंज है। व्यवस्थापक का काम है कि उस शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करे। उससे इसी का हिसाब मांगा जायगा। यह जो सडक पर आदमी पडा है किस हक मे उसे वहा पडा रहने दिया गया है? सदा मे तो वह ऐसा न होगा। किसी मा का वह बेटा होगा, कभी जवान रहा होगा, मन मे उमग और आशा होगी। किसी के लिए उसमें

प्रेम होगा। चाहता होगा कि मैं अपने को दे डालूं...वही आज यहां क्यों है? उसकी जवानी और उसका प्रेम और उसकी मनुष्यता क्यों हवा में उड़जाने दी गई? क्यों वह आदमी सफल और सार्थक नहीं हो सका? क्यों वह यहा सड़क पर मनुष्य का तिरस्कार पाकर और अपने मन में मनुष्य के लिए तिरस्कार भरकर रोग की गाठ के मानिंद यहा पड़ा हुआ है? क्यों जो प्रेम विकीर्ण कर सकता था घृणा फैला रहा है? कौन उसके मन की जानता है। शायद लोग उससे जितनी घृणा करते हैं, उनसे कहीं तीव्र घृणा उनके लिए उसमें है। इस तरह उस पड़े हुए आदमी को केंद्र बनाकर यह घृणा का चक्र सारे वायु मडल में फैलता जा रहा है। जो प्रीति बखेरने के लिये ईश्वर की ओर से यहां आया है, वही आदमी जब नफरत की गदली गाठ बनकर आज सड़क पर पड़ा हुआ है, तब हमारे व्यवस्थापक कैसी सुव्यवस्था और शासक कैसा शासन कर रहे हैं? क्यों न कहा जाय कि वे कोई व्यवस्था नहीं कर रहे हैं, बस ढोंग और आडम्बर कर रहे हैं?

नये-नये अस्पताल खुल रहे हैं और फंड हो रहे हैं। अच्छा है कि वह सब हो। पर महाप्रलय और महा व्याधि का बीज जो घृणा है और जिसके कीटाणु उस व्याधि के विषम रोगियों में से फूट कर चारों ओर फैल रहे हैं उनकी ओर भी किसी का ध्यान है। बल्कि मुझे कहने दीजिये कि व्यवस्थापकों के खुद के रवैये से वे कीटाणु बढते और फैलते हैं। व्यवस्थापक अभिमानी हैं और अभिमान नीची श्रेणी के आदमी में असंतोष और द्वेष पैदा करने का कारण होता है। इस तरह व्यवस्थापक अस्वस्थ हैं और पर अस्वास्थ्य पैदा करता है।

हम न जानें, पर सभ्यता के वैभव के नीचे यह कीड़ा लगा हुआ है। हम क्या इधर उधर की बात करते हैं। छोटे मोटे रोगों के शमन का उपाय करते हैं। वह करें, पर अपने उस बीच के महा रोग को भी पहचान लें

वही है जो आदमियों की शक्ति को आपसी सहयोग में समृद्ध नहीं होने देता और आपसी स्पर्द्धा मे बरबाद कर देता है। वही है कि जिससे विषमतायें पैदा होती है, विवाद, कलह, आन्दोलन और युद्ध पैदा होते है, जिसके कारण एक ओर भूख और दूसरी ओर ऐश देखने मे आता है, जिसके कारण एक रक है तो दूसरा राजा है।

मैने कहा कि मौत मे मुझे भय नहीं, वह तो जरूरी है। पर यदि हमारी व्यवस्था सच्ची हो तो कोई मौत घृणा का सञ्चार करने वाली न हो। बल्कि वह प्रेम का सञ्चार करे। सड़क पर पड़ा आदमी मरेगा तो अपने चारों ओर घृणा का एक वलय छोड़ जायगा। वह कटुता लेकर जायगा और सब के लिये बद्दुआ छोड़ जायगा। मै मानता हूँ कि वह बद्दुआ हमारे सिर टूटेगी। न सोचिये कि उसमें शक्ति नहीं है। रहीम ने कहा तो है कि निर्बल को न सताओ क्यो कि उसकी मोटी हाय है। मुई खाल की सास से क्या लोहा भस्म नहीं हो जाता? और मै मानता हूँ कि इस जगत् चलाने वाली मूल शक्ति का नाम प्रेम है। जितनी प्रकार की और शक्तियाँ है सब उसका रूपातर हैं। वही शक्ति आदमी की करनी से रुद्ध और क्षुब्ध होकर घृणा बन जाती है। उसको अशक्त मानना हमारा बड़ा भारी भ्रम है। वह घृणा सङ्कुचित हो कर जाने क्या नहीं कर सकती? ताज उससे धूल मे गिर गये हैं और तख्त उलट-पुलट हो गये हैं। क्रान्ति और नाम किस का है? आदमी की छाती के भीतर से जैसे मानो धरती के गर्भ में से हुकार भरती हुई जब वह शक्ति उभर कर फूटती है तब कौन उसके आगे टिकता है? इससे न समझा जाय कि प्रभुता की ही सत्ता है, त्रास की सत्ता ही नहीं। रुँध कर, इकट्ठा होकर वह कभी ऐसे प्रबल और अतर्क्य वेग से फूटता है कि ठिकाना नहीं।

शक्ति नष्ट नहीं होती। नष्ट कुछ नहीं होता। या वह उपयोग में आती है नहीं तो चारों ओर को खाने दौड़ती है। आदमी सचमुच

बारूद का गोला है। वह जिंदगी में अगर करने लायक कुछ नहीं कर जाता, तो न करने लायक बहुत कुछ कर जाने को वह लाचार है। काम से नहीं तो सोच विचार से करता है। वह या तो अपने जीवन से प्रकाश देता है या फिर अंधकार और घृणा फैलाता है। प्रत्येक असफल जीवन अपनी जकड़ चारों ओर छोड़ जाता है, जो मनुष्य जाति के विकास पर बेड़ी की तरह काम करती है।

हम भोले हैं अगर मानते हैं कि सड़क पर मरने को खुले पड़े आदमी से हमारा कोई वास्ता नहीं है। हम उसको लाघ कर जा सकते हैं, यह समझना भूल है। व्यवस्था न समझे कि उस भुखमरे को भूख से मरने के लिये छोड़कर वह स्वयं सुरक्षित रह जाती है। हम जीते होकर उसे मरने के लिये छोड़दे, पर वह मरकर हम जिन्दों को नहीं छोड़ेगा। क्योंकि ईश्वर के कानून में शक्ति नष्ट नहीं होती और उस मरने वाले की छाती में जितनी घृणा भर गई थी, वह भी व्यर्थ होने वाली नहीं है।

घृणा उसी तरह शक्ति है जैसे प्रेम। उलट चला प्रेम घृणा है। दो हजार वर्ष नहीं हुए कि ईसा मरा। मरना सबको है। पर ईसा की छाती में मरते समय जो प्रेम भरा हुआ था वह क्या व्यर्थ गया? नहीं, व्यर्थ नहीं गया। ईसाइयत उसी का नहीं तो किसका परिणाम है? ईसा की स्मृति में से और उसके उपदेश में से और उसके प्रेम में से वह रौ आई कि मनुष्यता मिलती चली गई और सत्तायें उखड़ती चली गई।

हम कहते हैं कि ईसा की मृत्यु आदर्श थी। बिचारा सड़क पर मरनेवाला क्या यातना पायेगा उसके मुकाबिले जो कि ईसा ने पाई। फिर भी ईसा की मृत्यु आदर्श थी और उस भुखमरे की मृत्यु कलंक होगी। कारण, मरते समय ईसा की आत्मा में से प्रेम के फुहारे छूट रहे

थे, उधर वह आवारा मरेगा तो उस में से घृणा के छींटे ही चारों ओर उड़ रहे होंगे।

मै चाहता हूँ कि इसी बात को पहचानें। सड़क पर पड़े उस भिखारी को उपकार के खयाल से बचाने के लिये हम न ठहरे। बल्कि देखे कि वह तो आग है, जिससे हमारा दामन बचा नहीं रह सकता। आग ठहरे तो सब भस्म हो जायगा। इससे हम खुद बचे नहीं न व्यवस्थापक को बचने दे। व्यवस्थापक हमारा भोला है। दफ्तर की फाइलों मे वह अपने दिन को खो बैठा है हमारा काम है कि हम उसको चेतायें कहे कि ओ। दफ्तर के मेरे भाई, तुम्हारा कलंक सड़क पर पड़ा हुआ तुम्हारे शर्म को उघाड़ रहा है और नही, तो अपनी शर्म को ढकने का प्रबंध तो करो। कहा है तुम्हारा अस्पताल और ऐम्बुलैंस गाड़ी फौरन भेजो और फौरन इन्तजाम करो। फाइल थोड़ी देर के लिये छोड़ो।

इस अपने घर में लगी आग को बुझाने में एक मिनट दे दोगे तो फिर पीछे तुम्हीं चैन से, रहोगे। नहीं दोगे तो फाइलों समेत अपने घर में ही तुम जल मरोगे।

जो घृणा और अपमान की आग से फुक रहा है उसको बुझाने मे देर करना उस आग को न्योता देना है। इसमें उपकार की बात नहीं है, एकदम स्वार्थ की बात है। सड़क पर पड़े पैसे को उठा लेने मे एक क्षण हमे सोचने की जरूरत नहीं पड़ती। वहाँ हमारा स्वार्थ है। पर उससे कहीं घनिष्ट स्वार्थ सड़क पर पड़े आदमी के साथ हमारा वास्ता है एक बार पैसे को तो न भी उठायें पर आदमी को तो उठाने को सोचना ही पड़ेगा।

मै व्यक्ति की दिक्कते जानता हूँ। व्यवस्था का दिल कागजी है। काम वहा का दफ्तरी है। व्यक्ति की सद्‌भावना का असर वहा नहीं

पडता । या बहुत देर से पडता है । अकेले आप उस जिंदा लाश को कैसे उठाइये ? मदद किसकी लीजिये ? एम्बुलैंस कहां से मंगाइये ? अस्पताल की परेशानियां और जिल्लत कहां तक झेलिये ? इत्यादि । और यह सब सोच कर मानो मन पर पत्थर रखकर आप उस जीवित मौत को देखते हुए निकल जाते हैं । और हैल्थ अफसर या सिविल सरजन या और अधिकारी व्यवस्थापक इधर से गुजरते हैं, तो अधिक सम्भव तो यह है कि वह मोटर में गुजरें और किसी अरुचिकर दृश्य के लिये खाली ही न हों । या आंखों वह दृश्य पड़ भी जाय तो उनके संवेदन को छू न सके—क्योंकि वह आदमी सरकारी है ।

पर मैं नहीं जानता कि बिना कष्ट उठाये कोई आग कैसे बुझ सकती है । यह सही है कि कष्ट उसी को उठाना पड़ेगा कि जिसकी आंख आग देखती है और जिसका मन झुलस पाता है । और जिसको झुलस लगती है वह अपनी खातिर कष्ट उठायेगा ही । वह फिर उपकार और दया आदि की बातों के लिये खाली ही कहां रहेगा ?

पर जो कहना है वह यह कि व्यवस्था अव्यवस्थित है और शासन वह भ्रष्ट है कि जहां ऐसे दृश्य मिलते हैं । व्यवस्थापक और शासक अगर पहले इस तरफ ध्यान नहीं दे पाते हैं और अपनी अपनी तनख्वाहों और भत्तों की बात उन्हें उससे पहले सूझती है, तो वे अपने अधिकार के पात्र नहीं ।

अग्निभक्तकों का युग

टेनिसन यदि आज जीवित होता तो 'लोटस ईटर्स' की तरह वह 'फाइर ईटर्स' पर भी कोई कविता अवश्य लिखता। तन्द्रिल पलकों की तरल छाया में रंगीन स्वप्न देखते देखते बेचारी रोमॉटिक कविता सदा को सो गई पर अप्सराओं के लोक का द्वार कभी दृष्टिगत न हुआ। सोने के दिन चादी की रातें पीतल और जस्त की भी न हो सकीं और बेचारे कवि ने खीझकर अपनी कलम फर्स पर दे मारी। एज़रा पाउंड ने तो यहा तक कह दिया कि कविता करने की यह व्यर्थ की दिमागी कसरत छोड़ कर तम्बाकू की दुकान खोलना ही अधिक अच्छा है।

विश्वकर्मा की पहली कविता विश्व की सृष्टि है। विश्वकर्मा ठहरा महान् कलाकार, सो उसकी कविता भी पूर्ण बन गई। सत्यं, शिवं, सुन्दरं का ऐसा सजीव सामञ्जस्य फिर कभी नहीं हुआ। आदि युग के कवियों ने विश्वकर्मा की रचना की विवेचना शुरू करदी जिससे जन साधारण जीवन को भली भॉति समझ सके! इस गम्भीर उत्तर-दायित्व को निभाने के लिये, उदात्त गम्भीरता और शालीनता की बड़ी आवश्यकता थी, और हम आभारी है उन पूजनीय कविमनीषियों के जिन्होंने इसे सफलतापूर्वक निबाहा। उन्होंने एक 'हीरो' चुन कर जीवन की विभिन्न दशाओं में उसकी मानता का विकास दिखला कर, लोगों के आगे आदर्श उपस्थित किये। जीवन की इन भिन्न भिन्न स्थितियों मे मानव को नचानेवाली शक्ति को उन्होंने भाग्य संज्ञा दी और उसकी विचित्र गति का सामना करने के लिये आशा और विश्वास का आविष्कार किया।

इसके बाद मानव का अहम् सजग होकर भगवान का प्रतिनिधित्व इस पृथिवी पर करने लगा। कवियों का दृष्टिकोण भगवान के इस प्रतिनिधि के व्यक्तित्व तक ही सीमित होगया। जीवन के विशद

व्यापक रूप के प्रति जो विशाल भावना थी वह संकुचित होने लगी। सुन्दरियों का शिकार और उसके हेतु व्यर्थ का रक्तपात कवियो के काव्य-विनोद का एकमात्र साधन बन गया। इन कवियो के स्वर मे ओज था, काव्य में प्रतिभा की चमक थी, क्योंकि उनकी अनुभूति एक जीवित अनुभूति थी। उन्होने स्वयं सब कुछ देखा और अनुभव किया था। वे अपनी कल्पना का व्यवहारिक जीवन मे भी उपभोग कर सकते थे।

फिर प्रतिक्रिया हुई। भक्ति का दौर चला और कवियो ने भोगवाद की ओर अपनी दृष्टि फेरी। भगवान् को पहचानने का प्रयत्न किया गया। जनता को जगाने के लिये कवियों ने अपने अन्दर के देवदूत का आवाहन किया। उनकी वाणी में सहानुभूतिपूर्ण भर्त्सना भी थी। काव्य की 'टोन' का बदलना स्वाभाविक आवश्यक भी था। भोगवाद की प्रवृत्ति कुछ काल के लिए मंद अवश्य पड गई किंतु आगे चल कर फिर प्रबल हो उठी। सम्भोग शृंगार की मादक भावना ने कवियों पर काबू पा लिया। अपनी वासना की तृप्ति के लिए उन्होने रसिक सामन्त टटोले और उनका मनोरञ्जन करके अपना भी जी बहलाया। वासना ने पौरुष को पंगु बना दिया। रघुवंश के अन्तिम राजा अग्निवर्ण का जो हाल हुआ वही इन सामन्तों का भी हुआ। वासना की सेज पर पडे पड़े उन्हें क्षय हो गया और शौर्य के ये अवशेष खंडहर भी ढह गए। कविता के सिर से छत्र-छाया उठ गई। कवि निराश्रित हो गये। वे निराश भी हुए। उनकी कल्पना ने रंग बदला। वे व्यक्तिवादी बन गए और स्वनिर्मित कल्पना-लोक में विचरण करने लगे। यथार्थ से परिचय उन्हें अ-सुहावन जान पडा। अपनी कल्पना के कमल-कोष में विलुब्ध मधुप के सदृश वे चैन से सो गए। उनकी तन्द्रा में जहां बाधा पडी वे झुँझलाये और उन्होंने विप्लवी साहित्य की सृष्टि भी की। किन्तु यह कोरा बौद्धिक विद्रोह था। उनकी कविता में उनके व्यक्ति-गत

उत्पीड़न की टीस थी, व्याकुलता थी, और घायल भावुकता की प्रभावोत्पादक पुकार थी। भावुकता की असहायावस्था का लाभ उठाकर बुद्धिवादक प्रबल हो उठा। स्वार्थ ने जोर पकड़ा और विज्ञान ने स्वार्थ की सहायता की। कवि अपनी प्रेयसी से मिलने के लिये पंखों की कल्पना ही करते रह गए और विज्ञान ने इसे व्यावहारिक रूप प्रदान कर बौद्धिक विजय की घोषणा की। कविता निस्तेज हो गई। लोगों ने विज्ञान की सराहना की, उसे अपनाया। विज्ञान ने मानव की आस्था पर आघात करना प्रारंभ किया। तर्क ने विश्वास को चुनौति दी, परिणाम यह हुआ कि जीवन में असतोष की आग लग गई। हृदय को विश्व मे विश्वास खोजना कठिन हो गया। सन्देह बढ़ चला यहा तक कि जीवन की प्रत्येक वस्तु बे-मूल, बे-मानी हो गई। आकर्षण का कोई केन्द्र न रहा, मस्तिष्क से हृदय दूर होता चला गया। हृद्-शतदल की नाल रस-स्रोत से विच्छिन्न हो गई। निरन्तर नीरस मानसिक संघर्ष से फुलझड़ियाँ छूटने लगीं जिन्होंने साहित्य मे व्यग्य के रूप मे प्रवेश किया। इसमे कटाक्ष की तीव्रता थी और व्यक्तिगत निराश कामना की खीझभरी झुँझलाहट भी।

हाँ तो, साहित्य, बुद्धि, विज्ञान और स्वार्थ के सयुक्त मोरचे के सामने से हटता गया, पिछड़ता गया। साहित्य कलाकार की मनःस्थिति का प्रकाशन है। अस्वस्थ मानस मे विकृत कल्पनाये जन्मती हैं, जिसे सन्निपात का साहित्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। इलियट की 'यूलिसिज' ज्वायस की 'वेस्टलेंड' और लौरेन्स के उपन्यासो के कथानक उक्त साहित्य के प्रतीक है। इनमे सघर्ष की व्यग्रता है, निराशा का कुहासा है, भय है, ग्लानि है, नग्नता है, और सस्ती शराब की सी तीक्ष्ण-क्षणिक उत्तेजना है। निर्बल, बीमार भावनाओ का सन्निपातग्रस्त निरूपण ही आज के साहित्य मे अधिक दिखाई देता है।

मानवता के आदिकाव्यो को देखिए—वाल्मीकि और होमर की

भावनायें कितनी स्वस्थ, निर्भीक, विराट् और दिव्य हैं। उनकी अनुभूति स्वाभाविक है, अकृत्रिम हैं। उसमे जीवन के सुख दुःख की सच्ची पहचान है। चादनी की शीतलता है, और धूप की तपन है। सस्ती शराब की तेजी उनमे नही है—अमृत की सजीवनी शक्ति अन्तर्हित है। तब पुरुष प्रकृति का सरल, निष्कपट, घनिष्ट साथी था। कालिदास से शेक्सपियर तक प्रकृति वनस्थली के साथ साथ रंगस्थली में भी केलि-क्रीडा करती रही। तब तक साहित्य मे जोवन, अनुभूति में प्रेरणा और कल्पना में बहुत कुछ निकटता बनी रही। शृंगार और सौदर्य्य का उपभोग जीवन और कला दोनों क्षेत्रो में था। कालिदास ने मनोज का शृंगार कागजी फूलों से नहीं किया, उसके पुष्पो मे वासन्तिक प्रफुल्लता का उन्मुक्त लास है।

आज हम हृदय-सरोवर को छोड कर बौद्धिक मरुभूमि में भटक गये हैं जहा कोई ओएसस भी नहीं है; मृग-तृष्णा की मरीचि का मात्र है। मन में अशान्ति है, अकुलाहट है. ऊमस है, अतः वातावरण भी बोझिल है, दमघुटानेवाला है। दो महायुद्धों के भीषण नर-संहार से मनुष्य मनुष्य को सदिग्ध दृष्टि से देखने लगा है। भ्रातृत्व की भावना विलुप्त हो गई है क्योंकि क्षुद्र भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये भाई भाई का शत्रु बन गया है। साहित्यकार बेचारा परेशान है। वह क्या लिखे, किस के लिये लिखे। जीवन की विषमता ने उसकी निर्मल भावनाओं का कचूमर ही निकाल दिया है। अपनी चिन्ताओं से ही आज उसे अवकाश नहीं है जो बहु-जन हिताय, बहुजनसुखाय कुछ सोच सके या लिख सके।

गौहरे मजमूँ निकलते हैं मगर बे-आबदार।
जबकि दरियाए तबियत जोश पर होता नहीं॥

भावोद्रेक के लिये प्रेरणा अत्यावश्यक है। कवि, गायक, चित्रकार अथवा वास्तुकार-कला का कैसा भी कोई पुजारी हो प्रेरणा के अभाव

में कुछ कर नहीं सकता। प्रेरणा के बल से ही सम्राट् कवि शाहजहाँ प्रस्तर में प्रणय-स्मृति को सौन्दर्य्य की संरक्षता में स्थायित्व प्रदान कर सका था। सूझ किसी मनोरम चित्र का मानसिक अवलोकन कर चुकने पर उसे हृदय तक उतार देती है कि वह सम्पूर्ण शरीर को घेर लेता है। प्रेरणा के क्षणों मे कलाकार इतना आत्म-विभोर हो उठता है कि उसे तन-मन का होश नहीं रहता।

"... ....To him
Who lives beyond earth's boundary
Grief is dim
Sorrow is but a shadow." Keats.

—जो पृथ्वी की परिधि से दूर रहता है, उसकी दृष्टि मे दुःख धुंधला है और केवल छाया के समान है।

किन्तु प्रेरणा भी आज के युग मे क्षीण हो चली है। उसमे वह प्रेरक शक्ति नहीं रही। आखिर बेचारी प्रेरणा आए भी तो कहा से। ईश्वर, प्रकृति और नारी –ये तीन ही कलाकारों की प्रेरणा के मुख्य उद्गम रहे हैं। इस वैज्ञानिक युग मे ईश्वर की अब उतनी पूछ नहीं रही जो भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हो आत्म विस्मृति की अवस्था में हमारे कवि रहस्यवादी काव्य का सृजन कर सकें। प्रकृति ड्राइंगरूम में टँगी हुई पेस्टल की सीनरी मे सकुचित होकर सीमित हो गई है। रही नारी सो वह स्वय ही आज बुझी हुई है, औरों को क्या प्रेरणा दे? पर साहित्यकार को प्रेरणा तो अवश्य चाहिये, अत' चकोर की तरह उसने अग्निभक्षण द्वारा अनुभूति में तेजी लाने की ठानी। मस्तिष्क और हृदय को उत्तेजना प्रदान करने के लिये उसने उत्तेजक पदार्थों का सहारा लिया। चाय, कॉफी, मदिरा, सिगरेट आदि के सेवन से साहित्यकारों ने अस्थायी अस्वस्थ प्रेरणा प्राप्त कर सरस्वती के जीर्ण-

शीर्ण मन्दिर में चहल पहल रखने का भरसक प्रयत्न किया और कर रहे हैं। अब के कवि खद्योतसम, इत उत करत प्रकाश। जुगनू की की सी क्षणिक चमक उनमे शेष रह गई है। इधर बौद्धिकता के अति-क्रमण से भावना आक्रान्त है, बेचैन है। साहित्यकार इस कोरे बुद्धि-वादी चिन्तन के चक्र की कविराल चाल से चकरा गया है। वह किसी न किसी प्रकार मस्तिष्क पर नियन्त्रण पाना चाहता है, उसे मूर्च्छित कर देना चाहता है जिससे कुछ समय के लिये उसकी कुण्ठित भाव-नाएँ स्वतन्त्र विचरण कर सके। मनोविज्ञान ने यथार्थ की तह तक पहुचने के प्रयास को इतना प्रोत्साहन दिया है कि सन्देह-रहित सुको मल वृत्तियों को उभरने का अवसर ही नहीं मिल पाता, जिससे जीवन का विश्वास-पूर्ण सुरम्य चित्र ढका पड़ा रहता है। साहित्यकार झुंझला उठता है, वेकली से छटपटा कर वह भावना-निर्मित अलकापुरी के भ्रमण को मचल पड़ता है। यदि अग्नि-भक्षण से भी उसे क्षणिक उत्तेजना के प्रेरणापूर्ण क्षणों में उसकी वाञ्छित वस्तु उपलब्ध हो सके तो वह उसके लिये भी तैयार है। वास्तव में आज के साहित्यकार शंकर की भाति गरल पीकर ही अमृत प्रदान करने की आशा में सहस्रों अभावों और असुविधाओं का सामना करते हुये येन केन प्रकारेण साहित्य-देवता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते ही रहते है। अग्नि-भक्षकों के इस युग में इतना ही क्या कम है।
